महाभारत

में शान्ति पर्व का आलोचनात्मक अध्ययन

(बौद्ध-धर्म और महाभारत की अनुकूलताओं एवं प्रतिकूलताओं के मूल्याङ्कन की दृष्टि से)

सुमेधा विद्यालङ्कार

महाभारत में शान्तिपर्व का आलोचनात्मक अध्ययन

महाभारत में शान्तिपर्व के इस आलोचनात्मक अध्ययन में **बौद्ध धर्म** के सिद्धान्तों की अनुकूलताओं तथा प्रतिकूलताओं का विशद अध्ययन किया गया है। शान्तिपर्व में वर्णित आचार, सामाजिक रीति-नीति, राजधर्म, प्रशासनिक और धार्मिक विचारधारा—इन सभी विषयों का बड़ी आकर्षक शैली में विवेचन किया गया है।

महाभारत भारतीय वाङ्मय का एक अपूर्व ग्रन्थ है। **शान्तिपर्व** इस महान् ग्रन्थ का बहुमूल्य अङ्ग है। इस पर्व में शान्ति और उसकी उपलब्धि के उपायों का व्यवस्थित वर्णन किया गया है। महात्मा बुद्ध ने भी मानव को इसी चिरन्तन शान्ति का सन्देश दिया है। यह बहुत आवश्यक था कि महाभारत जैसे अद्वितीय ग्रन्थ में देश की जिन अमूल्य मान्यताओं का प्रतिपादन किया गया है, उनसे महात्मा बुद्ध की अनुभूतियों की तुलनात्मक समीक्षा की जाए। प्रस्तुत ग्रन्थ में बौद्ध धर्म और महाभारत की अनुकूलताओं एवं प्रतिकूलताओं के मूल्याङ्कन की दृष्टि से महाभारत में शान्ति पर्व का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है।

रु० ७५.००

महाभारत में शान्ति पर्व का आलोचनात्मक अध्ययन

महाभारत में शान्तिपर्व का आलोचनात्मक अध्ययन
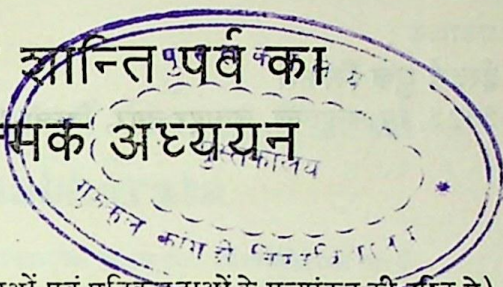
(**बौद्धधर्म** और **महाभारत** की अनुकूलताओं एवं प्रतिकूलताओं के मूल्यांकन की दृष्टि से)

डॉ० सुमेधा विद्यालंकार

ईस्टर्न बुक लिंकर्स
दिल्ली :: भारत

A Critical Study of Śānti Parva in Mahābhārata

(The similarities and differences between **Buddhism** and **Mahabharata**)

Dr. Sumedha Vidyalankar

Eastern Book Linkers
DELHI-7 : : (INDIA)
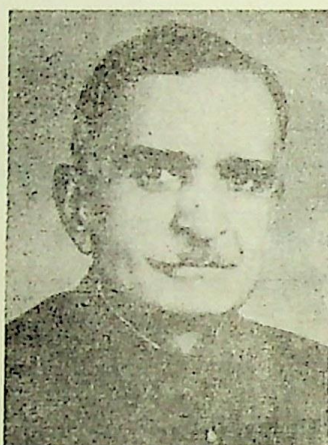
स्व० आचार्य प्रो० सुखदेव विद्यावाचस्पति एवं श्रीमती प्रभावती काव्यतीर्थ

पितृश्री एवं मातृश्री की पुण्यस्मृति को सादर सर्मापित

युष्मदीयां कृतिं युवाभ्यां समर्पये

भारतीय षड्दर्शनों के
उद्भट विद्वान्
आर्य जगत् के श्रेष्ठ दार्शनिक चिन्तक,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के
दर्शनोपाध्याय एवं
वेद महाविद्यालय के आचार्य, पितृपाद—
श्री सुखदेव जी विद्यावाचस्पति !
माता प्रभावती जी काव्यतीर्थ !

दोनों ने ही
हमारे परिवार के, विशेषत: मेरे आधिभौतिक एवं बौद्धिक अभ्युदय में
जो भूमिका
प्रस्तुत की है—
उसे
मैं विस्मृत नहीं कर सकती।
मेरे जीवन की
अनेक ही नहीं,
सम्पूर्ण उपलब्धियों में
मैं
उनकी ऋणी हूँ।
उनकी प्रेरणा से ही
यह कृति
मूर्त्तरूप धारण कर पाई।

अभ्युदय,
बी-22, गुलमोहर पार्क,
नई दिल्ली-110049
1 जुलाई, 1984

—सुमेधा विद्यालंकार

आमुख

डा० श्रीमती सुमेधा विद्यालंकार के 'महाभारत में शान्ति पर्व का आलोचनात्मक अध्ययन' शीर्षक शोध-प्रबन्ध का अवलोकन कर बड़ी प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूं। यह शोध-प्रबन्ध पांच-अध्यायों में विभक्त है। शान्तिपर्व में वर्णित आचार, सामाजिक रीति-नीति, राजधर्म, प्रशासनिक और धार्मिक विचारधारा—इन सभी विषयों का विशद वर्णन बड़ी आकर्षक शैली में प्रस्तुत किया गया है।

लेखिका ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है कि, "महाभारत जीवन की समग्रता का ग्रन्थ है।" इस ग्रन्थ को किसी तरह, किसी भी संकीर्ण परिधि में बाँधा नहीं जा सकता। विन्टरनित्स के शब्दों में—"यह ग्रन्थ समग्र वाङ्मय है" (whole literature) अत: इस ग्रन्थ में अपने देश की अनेक आपातत: परस्पर विरोधी आध्यात्मिक या आधिभौतिक परम्पराओं का यदि वर्णन मिलता है, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं है। सच तो यह है कि वैदिक समन्वयवाद का जीता-जागता निदर्शन महाभारत का समग्र साहित्य है।

यह बड़ी अच्छी बात है कि डा० श्रीमती सुमेधा विद्यालंकार ने अपने इस शोध-प्रबन्ध के माध्यम से महाभारत की इस समग्रता से जिज्ञासुओं को अवगत कराने का सफल प्रयास किया है। इस महत्त्वपूर्ण प्रकाशन के लिए डा० विद्यालंकार जी को हार्दिक बधाई।

26-3-84

रामशरण शर्मा
कुलपति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी,
भूतपूर्व कुलपति संस्कृत विश्वविद्यालय दरभंगा,
भू०पू० निदेशक राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान एवं
भू०पू० संस्कृत शिक्षा परामर्शदाता केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय

एक मूल्यांकन

महाभारत संस्कृत वाङ्मय का वह अपूर्व ग्रन्थ है, जिसे भारतीय संस्कृति का विश्वकोश कहा जाता है। इनका अध्यापन करने पर 'यन्न भारते तन्न भारते', सूक्ति शत प्रतिशत सत्य प्रमाणित होती है। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में समय-समय पर परिवर्त्तन चाहे जितने हुए हों, किन्तु यह निश्चित है कि प्रत्येक परिवर्त्तन से पूर्व और पश्चात् की सुस्थिर आस्थाओं के संकेत प्रधान या अप्रधान रूप में महाभारत में अवश्य मिल जाते हैं, इसमें जहाँ ब्राह्मण संस्कृति के मूल आधार प्रतिष्ठित हैं, वहीं श्रमण संस्कृति के केन्द्रभूत सिद्धान्त भी यथावसर पल्लवित दिखाई पड़ते हैं।

डा० (श्रीमती) सुमेधा विद्यालंकार के प्रस्तुत ग्रन्थ 'महाभारत में शान्तिपर्व का आलोचनात्मक अध्ययन' जो उनके द्वारा पी०एच०डी० उपाधि के लिए लिखित शोध-प्रबन्ध है, में बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों की अनुकूलताओं और प्रतिकूलताओं का विशद अध्ययन किया गया है। यहाँ निष्कर्ष के रूप में यह प्राप्त हुआ है कि अहिंसा जहाँ बौद्ध धर्म की आधारभित्ति है, वहीं ब्राह्मण संस्कृति (वैदिक संस्कृति) में भी उसकी समान रूप से प्रतिष्ठा है। बहुधा लोग यह घोषित करना चाहते हैं कि वैदिक संस्कृति में धर्म-अर्थ और काम तीन ही पुरुषार्थ स्वीकृत रहे हैं, मोक्ष पुरुषार्थ बौद्ध धर्म के प्रभाव के बाद में संयुक्त हुआ है। डा० विद्यालंकार ने इस प्रश्न पर चर्चा की है और सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है कि मोक्ष रूप पुरुषार्थ महाभारत में पूर्णतः प्रतिष्ठित है। बौद्ध आचार्यों के सिद्धान्त, जिनके कारण ही बौद्ध धर्म को व्यापक प्रतिष्ठा मिली, के तत्त्व भी महाभारत में भली प्रकार विद्यमान हैं—ऐसा आपने प्रमाणित किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इस प्रकार के ब्राह्मण एवं श्रमण संस्कृति के इतिहास के संदर्भ में अत्यन्त महत्वपूर्ण जानकारी विद्यमान है।

डा० (श्रीमती) सुमेधा विद्यालंकार ने श्री लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ के विकास में प्रारम्भ से ही उल्लेखनीय योगदान किया है। यह ग्रन्थ उनकी सक्षम लेखनी का प्रत्यक्ष प्रमाण है। मैं इस उपलब्धि के लिये उनका अभिनन्दन करता हूँ।

5-5-1984

डा० मण्डन मिश्र

निदेशक—राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान एवं

प्राचार्य—श्री लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ

साधुवाद

महाभारत हमारे देश का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक इतिहास-ग्रन्थ है किन्तु वह इतना ही नहीं है अपितु समग्र भारतीय वाङ्मय का महनीय मुकुट है। मानव जीवन की आकांक्षा का ऐसा कोई विषय नहीं है, जिसका उल्लेख इस ग्रन्थ में न हो और जिसकी प्राप्ति के साधनों का प्रतिपादन न किया गया हो। मनुष्य की समस्त कामनाएँ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में समाहित हैं, जिन्हें हमारे वाङ्मय में चतुर्विध पुरुषार्थ के रूप में अभिहित किया गया है। इन पुरुषार्थों के सम्बन्ध में महाभारतकार का कहना है कि—

'धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च पुरुषर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥'

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विषय में ऐसी कोई बात नहीं हो सकती जो महाभारत में न कही गई हो। उनके सम्बन्ध में इस ग्रन्थ में जो कुछ कहा गया है, उसी का आंशिक उल्लेख अन्य ग्रन्थों में प्राप्य है और जो बात इस ग्रन्थ में नहीं कही गई, वह अन्य ग्रन्थों में प्राप्त नहीं है। इस कथन से स्पष्ट है कि उक्त पुरुषार्थों के सम्बन्ध में जो कुछ बुद्धिस्थ एवं वक्तव्य हो सकता है वह सब इस ग्रन्थ में कह दिया गया है।

छान्दोग्य उपनिषद् में 'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्' कहकर इतिहास और पुराण दोनों को वेदों का वेद कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि वेदों में प्रतिपादित विषयों का पूर्ण एवं यथार्थ बोध इतिहास और पुराण द्वारा ही सम्पन्न होता है। इसी अर्थ में महाभारत वेदों का वेद है; वेदों के मर्मज्ञान का अद्वितीय साधन है।

शान्ति पर्व इस महान् ग्रन्थ का बहुमूल्य अङ्ग है, क्योंकि इसमें शान्ति और उसकी उपलब्धि के उपायों का अपूर्व शैली से वर्णन किया गया है। अपने उक्त विषय की उपयोगिता और महत्ता के कारण ही इसकी उत्तमाङ्गता निर्विवाद रूप से मान्य है। तृष्णा ही मनुष्य की विविध प्रवृत्तियों का मूल है और वह मनुष्य के साथ अनादिकाल से संलग्न है। मनुष्य उसके प्रभाव के बाहर नहीं होता। वह उसे अपनी निवृत्ति के साधनों को जुटाने में सर्वदा व्याप्त रखती है। वह मनुष्य को इतना व्यावसायिक बना देती है जिसके कारण मनुष्य का धार्मिक और आध्यात्मिक विकास अवरुद्ध हो जाता है।

उसकी एकान्त निवृत्ति न होने पर मनुष्य का मन सदैव अशान्त रहता है। फलतः 'अशान्तस्य कुतः सुखम्' भगवद्गीता की इस उक्ति के अनुसार सुख की प्राप्ति मनुष्य के लिये स्वप्न की वस्तु हो जाती है। महाभारतकार ने वहुत सत्य कहा है—

'यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥'

भगवान् गौतम बुद्ध ने भी अपनी महती तपस्या एवं साधना द्वारा इसी तथ्य का अनुभव किया था। उन्होंने भी मानवजगत् को सुख प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति की तृष्णा से ग्रस्त देखा और यह भी देखा कि इन तृष्णाओं के उपशम के लिए मनुष्य जो कुछ उपाय कर रहा है उससे उसका लाभ नहीं हो सकता। अतः उन्होंने 'सर्वं क्षणिकं, सर्वं स्वलक्षणं, सर्वं दुःखं और सर्वं शून्यम्' इन चार भावनाओं के अभ्यास को उक्त तृष्णा के क्लेश से मुक्ति का साधन बताया। उनकी यह मान्यता हमारे देश की उन मूल मान्यताओं से कतिपय अंशों में विपरीत थी, जिनमें मनुष्य को एक विशुद्ध, निर्मल, निर्विकार, शाश्वत आत्मा के रूप में देखा गया। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि अपने देश की मूल मान्यताओं और भगवान् बुद्ध की अभिनव अनुभूतियों की तुलनात्मक समीक्षा करते हुए महाभारत के माध्यम से ऐसा सामञ्जस्य स्थापित किया जाए, जिसे बिना किसी विचिकित्सा से अपनाकर तृष्णा से मुक्त होने के मार्ग पर यात्रा की जा सके।

डॉ० श्रीमती सुमेधा विद्यालङ्कार ने उक्त आवश्यकता का अनुभव कर महाभारत के शान्ति पर्व को अपने शोधपूर्ण अध्ययन का विषय बनाया और उन्होंने पूरे महाभारत तथा सम्बद्ध अन्य ग्रन्थों का और साथ ही बौद्ध साहित्य के सम्बद्ध ग्रन्थों का गम्भीरता से अध्ययन किया जिसके फलस्वरूप उनका यह प्रस्तुत ग्रन्थ अस्तित्व में आया। मैंने इस ग्रन्थ को देखा और उनकी विषय प्रतिपादन की पद्धति को भी समझा, फलतः इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में मुझे यह कहने में कोई हिचक नहीं है कि यह ग्रन्थ जिस लक्ष्य से लिखा गया है उसे पूरा करने में पर्याप्त सफल हुआ। इस शोधपूर्ण नवीन ग्रन्थ की रचना के लिए श्रीमती सुमेधा विद्यालङ्कार को साधुवाद देने में मुझे प्रसन्नता है।

5-7-84

आचार्य बदरीनाथ शुक्ल
राष्ट्रपति सम्मानित पंडितराज
भूतपूर्व कुलपति—सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी,
सीनियर फेलो—भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली

दो शब्द

डा० सुमेधा विद्यालंकार ने अपने शोध-प्रबन्ध में बौद्ध धर्म और महाभारत की अनुकूलताओं एवं प्रतिकूलताओं का मूल्यांकन किया है। महाभारत में शान्ति पर्व का वही स्थान है जो मनुष्य के शरीर में मस्तिष्क का होता है। विदुषी लेखिका ने उसके महत्व एवं रचनाकाल पर अच्छा प्रकाश डाला है। वेद, उपनिषद् तथा बौद्ध धर्म के त्रिपिटक के आचार एवं दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन करके एक बड़े अभाव को दूर किया है।

भारत के विभिन्न धर्मों, दर्शनों एवं मतों में कितनी ही विभिन्नता क्यों न हो, किन्तु उनमें एकता की विशेष कड़ी दिखाई देती है। भारतीय आचार में शील, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, शरण, श्रद्धा, सन्तोष, सत्य, कामनाओं, जप-तप, त्याग और अहिंसा का महत्वपूर्ण स्थान है। इस पर प्रस्तुत प्रबन्ध में अच्छा प्रकाश डाला गया है।

सामाजिक रीति-नीति, वर्णाश्रम व्यवस्था, जन्म, कर्म और पुनर्जन्म, चारों वर्ण एवं आश्रम व्यवस्था, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास का तुलनात्मक विवेचन सुन्दर ढंग से किया गया है। इसी प्रकार शान्ति पर्व और बौद्ध धर्म ग्रन्थों में राजधर्म पर राजत्व के मूल सिद्धान्त, उपायों का अवलम्बन, राजा का दायित्व, दण्ड एवं अर्थव्यवस्था का अध्ययन भी अच्छा है।

अन्त में, दार्शनिक एवं धार्मिक विचारधारा के अन्तर्गत आत्मा, ईश्वर, अनित्यता, काल, कर्म और भाग्य, यश और ज्ञान तथा मोक्ष पर तुलनात्मक अध्ययन भी आवश्यक है, जिससे जो इस समय धर्म के प्रति अरुचि और अज्ञान है, वह दूर हो सके।

हम आचार्य सुमेधा को इस शोध-प्रबन्ध पर बधाई देते हैं।

सी-47, गुलमोहर पार्क,
नई दिल्ली-49
20-5-84

—अक्षय कुमार जैन
वरिष्ठ पत्रकार एवं भू०पू० सम्पादक
नवभारत टाइम्स

भूमिका

A CRITICAL STUDY OF SANTI PARVA IN MAHABHARATA
(With a view to find out the similarities and differences between Buddhism and Mahabharata.)

महाभारत में शान्ति पर्व का आलोचनात्मक अध्ययन
(बौद्ध धर्म और महाभारत की अनुकूलताओं एवं प्रतिकूलताओं के मूल्यांकन की दृष्टि से)

हमारी सांस्कृतिक परम्परा बौद्ध धर्म एवं महाभारत में प्रतिपादित मान्यताओं एवं विचारों से परिपूर्ण है। उन विचारों में कहीं दोनों में समानता है तथा कुछ विचारों में दोनों में भिन्नता दिखाई देती है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि महाभारत के शान्ति पर्व एवं बौद्ध मत में जिन विचारों में साम्य दिखाई देता है, वहां शान्ति पर्व पर बौद्ध मत का प्रभाव होने से समानता है। जहां विभिन्नता है, वहां बौद्ध मत के सिद्धान्तों का प्रतिकार करने के लिए शान्ति पर्व में उन विचारों का प्रतिपादन किया गया है। इसीलिए यह पर्व महाभारत में प्रक्षिप्त अंश के रूप में जोड़ा गया है।

मेरी विनम्र धारणा है कि अन्य पर्वों की तरह शान्ति पर्व भी महाभारत का अविच्छिन्न अंग है, यह पर्व उसका प्रक्षिप्त अंश नहीं है। यदि यह उसका प्रक्षिप्त अंश है भी तो सूक्ष्म विश्लेषण से कहा जा सकता है कि यह कार्य इतनी पटुता अथवा बुद्धिमत्ता से किया गया है कि शान्ति पर्व तथा दूसरे पर्वों के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता। इस पर्व की बौद्ध मत से अनुकूलता तथा प्रतिकूलता के सन्दर्भ में जो विवेचन किया गया है, वह बौद्ध मत के प्रभाव अथवा प्रतिकार वश नहीं है, अपितु महाभारत के आदिपर्व की इस उक्ति कि 'जो यहां है वह अन्यत्र भी उपलब्ध है, जो यहां उपलब्ध नहीं है वह अन्यत्र भी उपलब्ध नहीं है' के सर्वथा अनुरूप है। जीवन का सर्वांगीण विशद अध्ययन ही महाभारत में प्रस्तुत किया गया है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में मैंने शान्ति पर्व के आलोचनात्मक अध्ययन द्वारा यह देखने-परखने का प्रयास किया है कि बौद्ध विचारधारा से महाभारत का किन-किन विषयों में और किस-किस प्रकार साम्य एवं भेद है।

प्रस्तुत प्रबन्ध-लेखन के प्रसङ्ग में मैं उन सब प्राचीन-अर्वाचीन मनीषियों एवं तत्त्ववेत्ताओं के प्रति अपनी विनम्र अंजलि अर्पित करती हूं, जिनके ज्ञानभण्डार से मुझे कुछ अमूल्य रत्न सिंचित करने का सुअवसर मिला है। महाभारत और बौद्ध वाङ्मय के प्रवक्ताओं ने विश्व के ज्ञानभण्डार एवं विचारपरम्परा में जो क्रान्ति की है, उसे सुधी विवेचक एवं रत्नपारखी कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करते हैं। विश्व-वाङ्मय एवं मानव-चिन्तन में इन दोनों का अपूर्व योगदान है।

इस शोध-प्रबन्ध की व्यवस्था एवं प्रगति में दिल्ली विश्वविद्यालय के बौद्ध-अध्ययन-विभाग तथा उसके कर्मठ अध्यक्ष डॉ० रामचन्द्र पाण्डेय से जो सक्रिय सहयोग एवं हार्दिक समर्थन मिला है, उसके लिए उनके प्रति मैं आभार व्यक्त करती हूं। प्रस्तुत कार्य मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय के बौद्ध अध्ययन-विभाग के प्रवक्ता डॉ० केवल कृष्ण मित्तल की देखरेख में सम्पन्न किया है, उन्होंने इस कार्य को प्रत्येक दृष्टि से सक्षम एवं निर्दोष बनाने में जो सहयोग दिया है, उसके लिए मैं हृदय से आभारी हूं।

अध्यापन कार्य करते हुए शोध-प्रबन्ध की तैयारी के लिए उपयुक्त सुविधा एवं आवश्यक सन्दर्भ-ग्रन्थों की पूर्ति में श्री लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ के प्राचार्य डॉ० मण्डन मिश्र तथा अन्य अधिकारियों ने जो योग दिया है उनके प्रति भी अपनी कृतज्ञता अभिव्यक्त करती हूं। इसी के साथ उन सभी स्नेही हितैषियों का भी आभार है, जिनके सक्रिय सहयोग से यह शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करने में समर्थ हुई हूं।

—सुमेधा विद्यालंकार

विषयानुक्रमणी

अध्याय-एक

प्रस्तावना

महाभारत का महत्त्व

महाभारत संसार भर के अमूल्य ग्रन्थों में से एक है। इसमें भारतीय सामाजिक एवं सांस्कृतिक जन-जीवन की झाँकी प्रस्तुत की गई है। महाभारत इतिहास है अथवा काव्य—यह एक जिज्ञासा का विषय है। भले ही यह इतिहास की परिभाषा में न आता हो, पर इससे भारतीय जन-जीवन की प्राचीन सामाजिक, सांस्कृतिक, एवं राष्ट्रीय परम्पराओं तथा विचारधाराओं को समझने एवं अध्ययन करने के लिए उपयुक्त सामग्री मिलती है और जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में इससे आज भी प्रेरणा प्राप्त की जा सकती है।

महाभारत में एक लाख के लगभग श्लोक हैं। इसके रचयिता कृष्ण द्वैपायन व्यास कहे जाते हैं। इतने विशाल आकार के एवं बहुविध विषयों से परिपूर्ण इस महाग्रन्थ की रचना एक ही व्यक्ति ने की या इसके कई निर्माता हुए—इस विषय में सर्वमान्य अन्तिम निर्णय पर नहीं पहुंचा जा सका है। तथापि महाभारत की अन्तः साक्षी एवं वर्णनों से प्रतीत होता है कि इस बृहद् ग्रन्थ के विविध संस्करणों के संग्राहक और सम्पादक तीन व्यक्ति हुए—वेदव्यास, वैशम्पायन और सौति। महाभारत-संग्राम के बाद श्री वेदव्यास मुनि ने इस आख्यान का उपदेश अपने शिष्य वैशम्पायन को दिया (जिसका उद्देश्य पाण्डवों की विजय मात्र का बोध कराना था) तब इसका नाम **जय** था। कुछ समय के पश्चात् वैशम्पायन ने अपने लिखे संवाद आदि जोड़ कर नागयज्ञ के अवसर पर जनमेजय को सुनाया। तब इसका नाम **भारत** प्रसिद्ध हुआ और इसके श्लोकों की संख्या 24000 हो गई। अन्त में यह कथानक लोमहर्षण के पुत्र सौति उग्रश्रवा ने शौनक आदि ऋषियों को सुनाया, जिसमें उनके पूछे प्रश्नों के उत्तर भी शामिल हुए। इससे इसके श्लोकों की संख्या एक लाख हो गई और इसका नाम **महाभारत** प्रसिद्ध हुआ। महा-

भारत में सौति का कथन दिया गया है—**एकं शतसहस्रं च मयोक्तं वै निबोधत**।[1] विद्वानों की सामान्य धारणा है कि प्रचलित महाभारत में सौति के काल के बाद कोई नया परिवर्तन व परिवर्द्धन नहीं हुआ है।

भारतीय जनश्रुति में महाभारत पञ्चम वेद कहलाता है। कृष्ण द्वैपायन द्वारा रचे जाने से इसे **कार्ष्ण वेद** भी कहा जाता है।[2] अपनी महत्ता और गुरुता के कारण यह ग्रन्थ महाभारत कहलाता है।[3] इस ग्रन्थ का नाम महाभारत इसलिए भी है क्योंकि उसमें भरत वंशी क्षत्रियों के महान् वंश का वर्णन किया गया है।[4] ग्रन्थ की व्यापकता के विषय में स्वत: इसी ग्रन्थ में कहा गया है—जो यहाँ है वह अन्यत्र भी मिलेगा, जो यहाँ नहीं है वह अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होगा।[5]

महाभारत का सूक्ष्म अध्ययन करने वाले पश्चिमी विद्वानों का कथन है कि भारतवंशी वीरों की मूलकथा की विस्तीर्ण परिधि में अनेक आख्यान और धर्म-कर्म के उपदेश इस ग्रन्थ में सम्मिलित हो गए हैं।[6] महाभारत के अंग्रेजी पद्यानुवादक श्री रमेशचन्द्र दत्त ने महाभारत को एशिया की प्रतिभा का सबसे बड़ा ग्रन्थ कहा है। महाभारत के विवेचक डा० वी० एस० सुकथङ्कर ने इस ग्रन्थ को "भारतीय साहित्य का एक अत्यन्त मूल्यवान् ग्रन्थ कहा है, जिसे भारतीय परम्परा ने बड़े यत्न से 2000 वर्षों से सुरक्षित रखा है यह भारतीय परम्परा के सर्वोत्तम आदर्शों का रत्नाकर है।"[7]

महाभारत में भरतवंशियों के चरित्र एवं उनके संघर्षों की कहानी के साथ वेदों का रहस्य दिया गया है। वेदाङ्ग, उपनिषदों और पुराणों का सार तथा भूत, भविष्य, वर्तमान का यथातथ्य एवं काल्पनिक चित्र प्रस्तुत किया गया है। धर्मों और आश्रमों का लक्षण, चारों वर्णों की उत्पत्ति, मानव-जन्म के कारण आदि का प्रतिपादन किया गया है। दुर्ग एवं सेना की रचना-विधियाँ तथा युद्ध कौशल की युक्तियाँ बताई गई हैं। नाना प्रकार की जातियों के बोलचाल और रहन-सहन की प्रणालियों के वर्णन के साथ नीति शास्त्र का उपदेश एवं विश्लेषण किया गया है। उसी के साथ सर्वव्यापी परब्रह्म तत्त्व का भी विवेचन किया गया है।[8]

---

1. महाभारत आदिपर्व 1, 109।
2. कार्ष्णं वेदमिमं विद्वान्—महा० आदि० 1, 266।
3. महत्वाद् भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते। महा० आदि० 1, 274।
4. भरतानां महज्जन्म महाभारतमुच्यते। महा० आदि० 62, 39।
5. यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्। महा० आदि० 32-26।
6. मेक्डानल ए हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर पृ० 285; विन्टरनिट्ज़ ए हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन लिटरेचर जि०1, पृ० 321।
7. डा० वी०एस० सुकथङ्कर 'मीनिंग ऑफ़ महाभारत" पृ 28, 30।
8. महा० आदि० अ० 1 श्लो० 70-72।

महाभारत के मनोरम काव्य एवं इतिहास होने में कदाचित् थोड़े ही विद्वानों को सन्देह हो। इसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का वर्णन है, इसी कारण यह ग्रन्थ धर्मशास्त्र होने के साथ-साथ अर्थशास्त्र और मोक्षशास्त्र भी कहा गया है।[1] रसात्मक काव्य के रूप में विभिन्न उपाख्यानों और प्रसङ्गों द्वारा महाभारत में शृंङ्गार, वीर, करुण, रौद्र, अद्भुत, भयानक, वीभत्स और शान्त रसों की अनुपम निष्पत्ति की गई है। काव्य-गुणों की आलोचना करते हुए संस्कृत साहित्य के प्राचीन आचार्यों ने महाभारत से अनेक उदाहरण दिए हैं। आनन्दवर्द्धन द्वारा अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक में दिया गया महाभारत में आए गृध्र गोमायु सम्वाद का उदाहरण उन अनेक में से एक है।

महाभारत में बहुत-सी सुन्दर कथाएं हैं जिन पर स्वतन्त्र महाकाव्य लिखे गए हैं। संस्कृत के तीन महाकाव्य **किरातार्जुनीय, शिशुपालवध** और **नैषधीयचरित** महाभारत की कथावस्तु के ही आधार पर लिखे गए हैं। इसी प्रकार इस ग्रन्थ के सुन्दर कथानकों के आधार पर महाकवि कालिदास का **अभिज्ञानशाकुन्तल**, कवि नारायण भट्ट का **वेणीसंहार** तथा अन्य कई कवियों द्वारा अनेक नाटक **प्रभावती परिणय, धनंजय विजय** आदि रचे गए हैं। आज तक भी यह लेखकों के लिए प्रेरणा-स्रोत है।

भारत को महाभारत ग्रन्थ का रूप देते हुए इसमें श्रीकृष्ण की प्रशंसा, विष्णु की स्तुति के साथ अन्य देवताओं की उपासनाएँ भी सम्मिलित की गई हैं। इसमें वैष्णव तथा शैव मतों का समन्वय किया गया है। विभिन्न उपासना पद्धतियों के सामञ्जस्य के साथ इसमें वेदान्त, सांख्य, योग, पाञ्चरात्र, पाशुपत आदि विभिन्न तत्त्वज्ञानों का भी समावेश किया गया है। इन तत्त्वज्ञानों के पारस्परिक विरोधों का अन्त कर यज्ञ-याग, तीर्थ, उपवास, दान आदि अङ्गों का विवेचन भी इस ग्रन्थ में किया गया है। अनेक राजाओं, ऋषियों, पशु-पक्षियों की नीति कथाएँ एवं उदाहरण कथाएँ महाभारत में सुरक्षित हैं। प्रतीत होता है कि इस महाग्रन्थ के लेखक अथवा संग्राहक-सम्पादक मण्डल ने अपने समय की समस्त नीति-कथाएँ तथा उदाहरण कथाएँ संगृहीत कर दी हैं। द्रोण पर्व में षोडश राज्यीय उपाख्यान हैं। अश्वमेघ करने वाले समस्त आर्यावर्त्तीय राजाओं की सूची यहाँ सुरक्षित है, वनपर्व के रामोपाख्यान में रामायण की कथा है, शल्य पर्व में सरस्वती आख्यान है, पौष्य और पोलोमी उपाख्यान, नल-दमयन्ती की कथा तथा अंशावतार वर्णन के साथ शास्त्र विषयक ज्ञान चर्चाएँ भी इस महाग्रन्थ में संकलित हैं। यद्यपि महाभारत को आस्तिक ग्रन्थों की श्रेणी में माना जाता है, तथापि क्योंकि उसमें नास्तिक कहे जाने वाले ग्रन्थों की भी विशेषताएँ हैं, वेद को न मानने वाले बौद्ध आदि मतों के सिद्धान्तों का भी इसमें समावेश है। अतः महाभारत दोनों के लिए उपयोगी ग्रन्थ है।

महाभारत में आए सिद्धान्त-वाक्य सामान्यतया सापेक्ष हैं। कहीं व्यक्ति विशेष से

1. महा० आदि० अ० 2 श्लो० 383।

अपेक्षित हैं, कहीं स्थिति विशेष अथवा काल विशेष से। दूसरी ओर बौद्ध धर्म में सिद्धान्त वाक्य निरपेक्ष रूप से हैं, अतः उपदेशात्मक वाक्य कहे जा सकते हैं।

यह उल्लेखनीय है कि महाभारत की मुख्य कथा का वर्णन इसके ~109 अध्यायों में से केवल एक हजार अध्यायों में है। ग्रन्थ का आधे से अधिक भाग वर्णनात्मक एवं नीतिसम्बन्धी कविताओं से युक्त है। इन कविताओं का कौरवों एवं पाण्डवों की मुख्य कहानी अथवा उनके युद्ध से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। बारहवें एवं तेरहवें पर्वों में ऐसी ही आख्यायिकाएँ उपलब्ध होती हैं।

महाभारत में शान्तिपर्व का स्थान

महाभारत का बारहवाँ शान्तिपर्व अनेक निकटस्थ सगे-सम्बन्धियों, विशेषतः बड़े भाई कर्ण की मृत्यु से दुःखी महाराजा युधिष्ठिर के वैराग्य और शोक के प्रसङ्ग से प्रारम्भ होता है। महाराजा युधिष्ठिर अपने को धिक्कारते हैं और संसार का त्याग कर यतियों की तरह शेष जीवन व्यतीत करने का विचार करते हैं। उनके भाई अर्जुन, भीम, नकुल सहदेव, धर्मपत्नी द्रौपदी तथा गुरुस्थानीय व्यासमुनि आदि उन्हें समझाने का प्रयत्न करते हैं। व्यास मुनि ने युधिष्ठिर को परामर्श दिया कि उन्हें पहले राजा या शासक की जिम्मेदारी निबाहनी चाहिए। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में शरशय्याशायी भीष्म पितामह के समीप जाकर उनसे अपने कर्त्तव्य का ज्ञान प्राप्त करें। इसी सत्परामर्श के अनुसार राज्याभिषेक के बाद महाराजा युधिष्ठिर परिजनों के साथ भीष्म पितामह के पास गए और उनसे पूछा कि राजा का धर्म क्या है?

भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर को जो उपदेश दिया वह सम्पूर्ण शान्तिपर्व में दिया गया है। प्रारम्भ में उन्होंने राजधर्म की शिक्षा दी, उसके बाद राजा के लिए आपत्ति काल में क्या-क्या धर्म व कर्त्तव्य हैं, वे सब बताए। अन्त में कहा कि जीवन-भर अपने कर्त्तव्यों का पालन करने के बाद अन्तिम लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति होना चाहिए। इसी सन्दर्भ में अन्त में मोक्षधर्म का उपदेश दिया। शान्तिपर्व के प्रारम्भ के दो उपपर्वों में जहाँ आचार, धर्म, नीति आदि सब बातों का समावेश है वहाँ तीसरे और अन्तिम उपपर्व में मोक्ष के प्रसङ्ग में ज्ञान की विशद चर्चा करते हुए विभिन्न दार्शनिक मतों का भी विशद वर्णन किया गया है। अपने विशिष्ट दार्शनिक विवेचन के कारण भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों के संग्रह रूप में इस पर्व की महत्ता उल्लेखनीय है।

शान्तिपर्व में दो विचारधाराएँ स्पष्टतः दिखाई देती हैं कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए संन्यास जितना सहायक और विश्वसनीय मार्ग है उतना ही स्व-धर्म का पालन करते हुए, निष्काम बुद्धि से गृहस्थ अथवा शासक द्वारा अपने दायित्व पूर्ण करने का मार्ग मुक्ति के लिए सहायक है।

महाभारत का रचना-काल

शान्तिपर्व का आलोचनात्मक अध्ययन करने से पूर्व यह विचार करना अभीष्ट होगा कि विभिन्न विद्वानों ने महाभारत का रचना-काल क्या निर्धारित किया है ?

1. विक्रम से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व विरचित आश्वलायन गृह्यसूत्र में भारत तथा महाभारत का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया है।[1] इससे प्रतीत होता है कि महाभारत ईसा से लगभग 600 वर्ष पूर्व विद्यमान था।

2. बौधायन के गृह्यसूत्र में विष्णुसहस्रनाम का स्पष्ट उल्लेख है, तथा भगवद्गीता का एक श्लोक प्रमाण रूप से उद्धृत किया गया है।[2] जबकि गीता महाभारत का ही एक भाग है। आश्वलायन तथा बौधायन की स्थिति ईसवी संवत् के लगभग चार सौ वर्ष पूर्व मानी जाती है।[3] इससे प्रतीत होता है कि महाभारत की रचना इन दोनों के समय (400 वर्ष ई० पूर्व) से कम-से-कम 200 वर्ष ई० पूर्व अर्थात् 600 वर्ष ई० पूर्व हुई होगी। इन दोनों उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि महाभारत की रचना बौद्ध धर्म के प्रसार (ईसा से 450-400 वर्ष पूर्व) से पूर्व हुई होगी।

3. आश्वलायन की स्थिति ईसवी सम्वत् के लगभग चार सौ वर्ष पूर्व मानी जाती है और आश्वलायन-गृह्यसूत्र से पूर्व उपलब्ध किसी साहित्य में महाभारत के नाम का उल्लेख नहीं मिलता। अत: पश्चिमी विद्वान् महाभारत की रचना की प्राचीनतम अवधि 5वीं शताब्दी ई० पू० स्वीकार करते हैं। होलसमान आदि कुछ जर्मन विद्वानों का अनुमान है, जो अविश्वसनीय प्रतीत होता है, कि महाभारत का वर्तमान रूप ईसा की नवम और दशम शताब्दी के मध्य हुआ होगा। पर यह स्थापना जर्मन विद्वान् विन्टरनिट्ज स्वीकार नहीं करते, क्योंकि साहित्यिक विवरणों और शिलालेखों के प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि 5वीं ईसवी शताब्दी के लगभग महाभारत को धर्मग्रन्थ के रूप में मान्यता मिल गई थी।[4]

4. आधुनिक इतिहासकार तिब्बती, सिंहल तथा अन्य पाण्डुलिपियों और शिला-

---

1. गृह्यसूत्र, अ०3 खण्ड 4,4।
2. गीता, 9-26।
3. मैक्डोनल—"ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर" पृ० 287
   विन्टरनिट्ज—"ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर" पृ० 471।
4. विन्टरनिट्ज—"ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर" भाग 1, पृ० 463।
   मैक्डोनल—"ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर" पृ० 289।

लेखों के आधार पर गौतम बुद्ध की मृत्यु का समय ईसवी पूर्व 474 मानते हैं। महाभारत में महात्मा बुद्ध के नाम का कहीं उल्लेख नहीं है। बुद्ध के समकालीन महात्मा महावीर के नाम का भी उल्लेख नहीं मिलता। इससे प्रतीत होता है कि महाभारत का रचना-काल इन दोनों से पूर्व का है। यद्यपि बौद्ध वाङ्मय में भी महाभारत के नाम का उल्लेख नहीं है, इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महाभारत और बौद्ध मत दोनों विचारधाराएँ स्वतन्त्र एवं एक-दूसरे के निरपेक्ष एवं अक्षुण्ण रूप से चलती रहीं। परिणामतः दोनों में एक-दूसरे का नाम निर्देश नहीं किया गया।

5. हॉपकिन्स ने महाभारत के पद्य के आधार पर ग्रन्थ के निर्माण का काल-निर्धारण करने का प्रयास किया है। इस ग्रन्थ में मुख्य रूप से अनुष्टुप् एवं त्रिष्टुप्छन्दों के श्लोक हैं, जिन्हें वैदिक कालीन अनुष्टुप् के प्रयोग का नवीन रूप बताया है। उसके पश्चात् इन छन्दों के परिवर्तित रूप इन्द्रवज्रा एवं उपेन्द्रवज्रा आदि छन्द रामायण आदि ग्रन्थों में प्रयुक्त बताए हैं। इन छन्दों के आधार पर हॉपकिन्स की यह स्थापना है कि महाभारत की रचना रामायण से पूर्व हुई जान पड़ती है।[1] पर इन विद्वानों का यह मत मान्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि रामायण लौकिक संस्कृत साहित्य का प्राचीन एवं सर्वप्रथम ग्रन्थ माना गया है। इसी कारण इसका आदिकाव्य नाम साहित्य में प्रसिद्ध हुआ है।

6. शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित का मत है कि ग्रहों के गणित तथा राशि सम्बन्धी ज्ञान की प्रधान कुंजी भारतीय ज्योतिष ने यूनानी ज्योतिष से सीखी।[2] इस कला का ज्ञान ईसवी सन् से लगभग 200 वर्ष से पहले यूनान से प्राप्त किया गया। महाभारत में इन राशियों का उल्लेख न होने से महाभारत का रचना काल ईसवी पूर्व 200 वर्ष से कुछ पूर्व होगा, ऐसा प्रतीत होता है। पर पूर्व वर्णित अधिकतम प्रमाणों के आधार पर जहाँ महाभारत का काल 600 वर्ष ईसवी पूर्व माना गया है, उसकी तुलना में 200 वर्ष ईसवी पूर्व मानना कुछ तर्कसङ्गत नहीं प्रतीत होता।

महाभारत के काल निर्णय के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। कुछ विद्वान इसका समय दसवीं शताब्दी मानते हैं, कुछ 400 ई० पूर्व तथा कई 600 ई० पूर्व मानते हैं। अतः महाभारत के रचना-काल की अवधि निश्चित नहीं कही जा सकती।

शान्तिपर्व के विषय में विद्वानों के मतों में कुछ भेद कहे जा सकते हैं। एक विकल्प यह कहा जाता है कि महाभारत का मूल कथानक चाहे बौद्ध साहित्य के निर्माण से काफी पूर्व का हो, पर क्योंकि महाभारत से **जय** आदि रूपों में परिवर्तन तथा संवर्द्धन किया गया, अतः उसके उपदेशात्मक स्थल—विशेष रूप से शान्तिपर्व—बौद्धकाल के बाद लिखे गए। उन विद्वानों के मतानुसार शान्तिपर्व प्रक्षिप्त अंश है। इस पर्व की आधारभूत कोई ऐसी विचारधारा अवश्य है जिसके विरोध में उन स्थलों में एक समन्वयात्मक रूप

---

1. हापकिन्स—एपिक माइथॉलॉजी।
2. चिन्तामणि विनायक वैद्य—"महाभारत मीमांसा" पृ० 51।

दिखाई देता है। बौद्ध सिद्धान्तों के अनुसार सामान्य मनुष्यों को गृहस्थ जीवन छोड़ कर भिक्षु होने के लिए प्रेरणा दी गई। इससे लोगों में अपने कर्त्तव्यों और धार्मिक आचरणों के प्रति अनास्था तथा निवृत्ति की भावना आने लगी। इन सब धारणाओं का प्रतिकार करने के लिए शान्तिपर्व का लेखन किया गया। इस विषय में एक यह युक्ति दी जाती है कि जहाँ बौद्ध धर्म में निवृत्ति पर प्रधान रूप से बल दिया गया है उसके विरोध में शान्तिपर्व में प्रवृत्ति पर बल दिया गया है। अतः शान्तिपर्व की रचना बौद्ध काल के बाद हुई है।

ऊपर वर्णित विचार को कुछ विद्वान् इस बात से और भी पुष्ट करते हैं कि वैदिक काल से लेकर उपनिषद् एवं बौद्ध मत के प्रसार व प्रचार काल से होकर महाभारत (विशेष रूप से शान्ति पर्व) के समय तक प्रवृत्ति, निवृत्ति एवं दोनों के सन्तुलन का एक विशेष क्रम भारत के सांस्कृतिक इतिहास में चला है।

वेदों में प्रवृत्तिवाद

वैदिक संहिताओं के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन आर्यों का जीवन के प्रति आशाजनक दृष्टिकोण था। वे चाहते थे कि मानव अपना व्यवस्थित विकास करे। हमारे चारों ओर आनन्द-उत्साह व्याप्त है, हम उसका पूर्णतया उपयोग करें। हम सौ वर्ष तक जिएँ—निरन्तर अपने ज्ञानको बढ़ाते रहें, पोषण और दृढ़ता प्राप्त करें, आनन्द-पूर्ण एवं दीनताहीन जीवन व्यतीत करें।[1]

वैदिक आर्य प्रकृति के प्रत्येक रूप में वनों, पर्वतों तथा नदियों के सङ्गमों में, सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि में सच्चे सौन्दर्य, माधुर्य एवं आनन्द का अनुभव करते थे। वे समझते थे कि प्रकृति माँ सदा स्नेहार्द्र रहती है, हमारा पालन-पोषण करती है। इसका माधुर्य अद्भुत होता है, इसके अमृत रूपी जीवन-रस का पान करते हुए हम आनन्द से रहते हैं।[2]

आँग्ल विद्वान् कीथ, जिन्होंने वैदिक साहित्य का पर्याप्त अनुशीलन किया है, का कथन है कि "इस जगत् में जीवन के प्रति निराशाजनक दृष्टिकोण संहिताओं के समय तक अज्ञात था। इसलिए भौतिक अस्तित्व से मुक्ति का प्रश्न ही पैदा नहीं हुआ था।[3] दूसरी ओर भारतीय इतिहासकार श्री दलाल के इस विचार से हम सहमत नहीं हैं कि यद्यपि पुनर्जन्म का सिद्धान्त वैदिक आर्यों को चिन्तित नहीं करता था और उनकी

1. यजुर्वेद, 36-24।
2. ऋग्वेद, 1-115-1।
3. कीथ "रिलीज़न एण्ड फिलॉसॉफी ऑफ दि वेद" पृ० 243-259।

नियति पर कर्म का भी कोई प्रभाव नहीं था; तथापि वे किसी अज्ञात शक्ति से भयभीत रहते थे, इसी कारण वे यज्ञ आदि करते थे।[1] क्योंकि हमें यह प्रतीत होता है कि वैदिक काल में लोग भय के कारण यज्ञ आदि नहीं करते थे, अपितु यज्ञ आदि द्वारा आनन्द की प्राप्ति ही उनका उद्देश्य था।

हमारे इस विचार की पुष्टि एक अन्य विद्वान् श्री नलिनाक्ष दत्त की इस उक्ति से होती है जिसमें उन्होंने वैदिक ऋषियों की अधिकांश गीतियों को भौतिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एवं देवताओं को प्रसन्न करने के निमित्त आह्वान मात्र कहा है। साथ ही उनके इस कथन से भी कि "वे ऋषि बहुत आशावादी थे इस भौतिक जगत् में दीर्घायु होने की आकांक्षा के साथ ही साथ उनकी अधिकतर प्रार्थनाएँ पशुओं की प्राप्ति एवं अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए थीं।[2]

वैदिक काल के प्रवृत्तिवाद के विषय में कई विद्वानों का कथन है कि संहिताओं में केवल प्रवृत्ति सम्बन्धी विवरण ही नहीं है, अपितु निवृत्ति विषयक सन्दर्भ भी हैं। उन सन्दर्भों में आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी सूक्त विद्यमान हैं। इसके प्रमाणस्वरूप उन विद्वानों के कथनानुसार वैदिक आर्यों को सुख-दुःख, नित्यता-अनित्यता, तथा इहलोक और परलोक का ज्ञान था। यही कारण था कि वे लोग ज्योतिस्वरूप उस परमात्म तत्त्व की अनुभूति के लिए उसके विविध गुणों एवं यज्ञों के माध्यम से देवताओं की स्तुति करते थे। वे जानते थे कि जीवात्मा और परमात्मा के अभेद अथवा ऐक्य ज्ञान से चरम उद्देश्य की प्राप्ति होती है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद में नासदीय सूक्त जैसा दार्शनिक सूक्त विद्यमान है। इसमें उल्लेख है कि "सृष्टि के प्रारम्भ में केवल जल था तथा **वह** एक था। उसी अव्यक्त चैतन्य से सृष्टि के समस्त वैचित्र्य उत्पन्न हुए।"[3] उस परम शक्ति को कहीं **अमर ज्योति**[4] और कहीं **"परम पद"**[5] नाम से कहा गया है ऋग्वेद के ही **"द्वा सुपर्णा सयुजा—**[6] मन्त्र में परमात्मा जीवात्मा के स्वरूपों का उल्लेख है।

इन सबके होते हुए भी वेदों में हमें लोक-परलोक, मृत्यु-अमरता आदि द्वन्द्वों की जो चर्चा मिलती है, वह प्रवृत्ति के ही परिवेष में मिलती है निवृत्ति के नहीं।

डॉ० मंगलदेव शास्त्री के अध्ययनानुसार वैदिक संहिताओं में निवृत्ति को प्रेरणा

---

1. दलाल : 'हिस्ट्री ऑफ इण्डिया" पृ० 7।
2. नलिनाक्ष दत्त—'अर्ली मौनेस्टिक बुद्धिज्म' कलकत्ता, 1941 ओरियण्टल सीरिज नं०307।
3. ऋग्वेद, 10-129।
4. ऋग्वेद, 2,27,11।
5. ऋग्वेद, 1,22,20-21।
6. ऋग्वेद, 10,164,20।

देने वाले दुःख और उससे प्रेरित मोक्ष रूपी ध्येय का उल्लेख नहीं है। 'भारतीय संस्कृति का विकास' नामक अपने ग्रन्थ में यह विद्वान् लिखते हैं कि बहुत से विद्वानों को भी यह जानकर आश्चर्य होगा कि वैदिक संहिताओं में मुक्ति, मोक्ष अथवा दुःख शब्द का प्रयोग एक बार भी हमें नहीं मिला।"[1]

वैदिक ऋचाओं में कर्म को बन्धन न मानकर चातुर्वर्ण्य-विहित सुखप्रद कर्म करने में रुचि लेने की ही सीख दी गई है। वैदिक ऋषियों ने इस संसार को असार नहीं कहा, न ही उन्होंने मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य ध्यान और समाधि को ही माना था। उनकी धारणा के अनुसार मानव को इस लोक में कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिए।"[2]

वैदिक ऋषियों ने जहाँ संसार की उपभोग के योग्य वस्तुओं का सदुपयोग करने की बात कही है, उसके साथ ही उनके सोमरसपान करने का वर्णन भी मिलता है। मरणोपरान्त उनका लक्ष्य स्वर्ग था और वह स्वर्ग भी सुख और ऐश्वर्य भोगने का स्थान था। यज्ञ के साथ यदि वे तप को महत्ता देते थे तो उनका तप करने का उद्देश्य भी सुख प्राप्त करना ही था।

वेदों में तीन प्रकार के मन्त्र हैं—प्रार्थना विषयक, स्तुति परक तथा उपदेशात्मक। प्रार्थना विषयक मन्त्र—जैसे गायत्री मन्त्र[3] में विवेक तथा समृद्धि की प्रार्थना की गई है। इसमें समृद्धि की कामना से प्रवृत्ति का संकेत मिलता है। एक स्थान पर जब वैदिक ऋषि अज्ञान रूपी अन्धकार से ज्ञान रूपी प्रकाश की ओर बढ़ते हुए उन्नति के लिए प्रार्थना करते हैं,[4] तो उन्नति से उनका अभिप्राय किसी प्रकार की आध्यात्मिक उन्नति न होकर ऐसी उन्नति अथवा प्रगति से प्रतीत होता है जिसे अधिक सुख-सुविधा का नाम दिया जा सकता है।

ऋग्वेद में एक स्थान पर वायु देवता से अपने लिए कल्याण और दीर्घायु की प्रार्थना की गई है,[5] वायु ही सब प्राणियों के प्राण धारण करने का आधार है। यजुर्वेद में एक स्थान पर—"वह परम तत्त्व तेजस्वरूप है हमें तेजस्वी बनाए, वह शक्ति सम्पन्न है हमें शक्ति दे—"[6] तेज, शक्ति आदि के लिए प्रार्थना की गई है। अथर्ववेद में एक स्थान पर सन्तान के वीर होने एवं जीवन प्रसन्नतापूर्वक बिताने के लिए[7] प्रार्थना का

1. डॉ० मंगलदेव शास्त्री "भारतीय संस्कृति का विकास" पृ० 122।
2. यजुर्वेद, 40-2।
3. ऋग्वेद, 3-62, 10।
4. यजुर्वेद, 20,21।
5. ऋग्वेद, 10,186,1।
6. यजुर्वेद, 19-9।
7. अथर्ववेद, 20-63-3।

संकेत है। एक स्थल पर जीवन भर यशस्वी रहने[1] और कहीं निर्भय रहने[2] की प्रार्थना का उल्लेख है। इस प्रकार इस लोक में ही आनन्दपूर्वक रहते हुए कल्याण, तेज, शक्ति आदि की कामना किए जाने से इन विभिन्न प्रार्थनाओं का प्रयोजन प्रवृत्ति निमित्तक ही कहा जा सकता है।

स्तुतिपरक मन्त्रों में यदि कहीं पर वीरता के प्रसंग में परम देव की स्तुति करते हुए शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की भावना व्यक्त की गई है,[3] तो कहीं पर समस्त दिशाओं के झुक जाने—**मह्यं नमन्ताँ प्रदिशश्चतस्रः**[4] की अनुभूति दर्शाई गई है। स्तुति मन्त्रों का प्रयोजन भी ऐहिक जीवन से सम्बद्ध होने के कारण प्रवृत्तिपरक प्रतीत होता है।

उपदेशात्मक मन्त्रों का प्रयोजन भी प्रवृत्ति परक ज्ञात होता है क्योंकि उनमें दिए गए सभी नहीं तो अधिकांश उपदेश ऐहिक जीवन की सुख-सुविधा के उपयोगी ही कहे जा सकते हैं। यथा—**संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि ज्ञानताम्**[5]—सब एक साथ चलो, एक साथ बोलो और समान मनोवृत्ति रखो।

वैदिक विचारधारा के अनुसार जीवन सत्य है और हमारा कर्त्तव्य है कि हम विघ्नों का सामना कर उन पर विजय प्राप्त कर जीवन में सफलता प्राप्त करें। अपना एवं समाज का उपकार करते हुए निरन्तर यज्ञ यागादि से देवताओं को प्रसन्न करें, तथा उनसे विभिन्न प्रकार के ऐहिक एवं पारलौकिक सुख वर के रूप में प्राप्त करें।

वैदिक संहिताओं के प्रवृत्तिमूलक दृष्टिकोण का प्रभाव परवर्ती भारतीय परम्परा पर किस प्रकार पड़ा, इसका एक उदाहरण तो रामायण से दिया जा सकता है जिसमें धर्म, अर्थ, काम पर विशेष बल दिया गया है मोक्ष पर नहीं।[6]

उपनिषदों में निवृत्तिवाद

जहाँ वेदों का सम्बन्ध प्रवृत्तिमूलक कर्मकाण्ड से है, वहाँ उपनिषदों का सम्बन्ध निवृत्तिमूलक ज्ञानकाण्ड से है। वैदिक यज्ञों का प्रयोजन सामान्य लौकिक पदार्थों की प्राप्ति

---

1. वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, सर्ग 3, श्लोक 8
   अयोध्याकाण्ड, सर्ग 1, श्लोक 22
   बालकाण्ड, सर्ग 5, श्लोक 4।
2. यजुर्वेद, 1,23।
3. अथर्ववेद, 2,15,1।
4. ऋग्वेद, 10,166,2।
5. वही, 10,128,1।
6. वही, 10,191,2।

से लेकर मनःकल्पित स्वर्ग तक पहुँचने के लिए था। उपनिषदों में उस नश्वर लक्ष्य के स्थान पर नष्ट न होने वाले शाश्वत लक्ष्य की प्राप्ति पर बल दिया गया।[1] एक स्थान पर अल्प-बुद्धि मनुष्यों के इन्द्रिय सुखों में लिप्त रहने को मृत्यु के पाश में फंसने के समान कहा गया।[2]

उपनिषदों की दृष्टि यह रही है कि यह जीवन नाशवान् है, प्राणियों को रोग और शोक से मुक्ति नहीं मिलती और वे मृत्यु की ओर अग्रसर होते हैं। सुख की अवस्था वह होती है जब जन्म और मृत्यु से छुटकारा होता है। अतः मनुष्य को सांसारिक विषयों में लिप्त न रहते हुए ऐसा जीवन व्यतीत करना चाहिए जिससे वे आवागमन के चक्र से मुक्ति पा सके। उपनिषदों में ज्ञान मुख्य विषय है, कर्म ज्ञान का पोषक मात्र है। स्वधर्म पर भी बल ज्ञान प्राप्ति के सन्दर्भ में ही दिया गया है। नाशवान् उद्देश्यों की प्राप्ति वाली वैदिक विद्या को उपनिषदों की अमरत्व दिलाने वाली विद्या से हीन ही माना गया है। मुण्डकोपनिषद् में परा और अपरा दो विद्याओं का भेद कहते हुए चारों वेदों और छह वेदाङ्गों की गणना अपरा विद्या में ही की गई है तथा परम तत्त्व ब्रह्म का ज्ञान कराने वाली विद्या को ही परा विद्या कहा गया है।[3]

इसी उपनिषद् में यज्ञ को क्षीण नाव की संज्ञा दी गई। वहाँ कहा गया है कि जो अल्पबुद्धि मनुष्य उसे ही अपने जीवन का लक्ष्य मान लेते हैं, वे वासनाओं के भंवर में फंस जाते हैं। अतः आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर सकते।[4] बृहदारण्यक उपनिषद् में वेदों तथा उनमें निर्दिष्ट देवताओं का महत्त्व उनके आध्यात्मिक पक्ष के कारण ही माना गया है उनके स्वरूप के कारण नहीं।[5] उपनिषदों में स्थान-स्थान पर आध्यात्मिकता पर बल दिए जाने से इनका निवृत्तिपरक होना स्पष्ट होता है।

सामान्य रूप से हम जिसे प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग कहते हैं, उपनिषद् की भाषा में उसे प्रेय और श्रेय मार्ग कहा गया। भौतिक सुखों की उपलब्धि का मार्ग प्रेयस कहलाया और आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग श्रेयस्। आत्मा के स्वरूप की व्याख्या करते हुए कठोपनिषद् में यम ने नचिकेता को इन दोनों मार्गों की भिन्नता को बताते हुए श्रेय मार्ग का अवलम्बन करने से ही मनुष्य का यथार्थ कल्याण होने का निर्देश दिया।[6]

वैदिक कर्मकाण्ड की आकाङ्क्षाएं प्रेय कोटि में होने से स्वभावतः उपनिषदों के तत्त्वचिन्तकों के लिए उपेक्षणीय थीं। उपनिषदों की श्रेय सम्बन्धी विचारधारा में मृत्यु,

1. मुण्डक, 2,2,3।
2. कठोपनिषद्, 2,1,2।
3. मुण्डक, 1,1,4,5।
4. मुण्डक, 1,2,7 5।
5. बृहदारण्यक, 4,5,-6।
6. कठोपनिषद् 1-2-1,2।

पुनर्जन्म से छुटकारे और अमरता की प्राप्ति के विचारों की महत्ता स्पष्ट है। वेदों में वर्णित आशावाद के स्थान पर इनमें मृत्यु और जन्मान्तर के भय का स्थान-स्थान पर उल्लेख कर उससे बचने के लिए अमृतत्व प्राप्ति ही एकमात्र उपाय बताया गया है।

कठोपनिषद् में नचिकेता द्वारा यम को मनुष्य-जीवन और भौतिक पदार्थों की क्षणभङ्गुरता के कथन का उल्लेख है।[1] छान्दोग्य उपनिषद् में भी इसी आशय का वर्णन किया गया है।[2] बृहदारण्यक में **नेति-नेति** कहकर विविध विकल्पों का खण्डन करके ब्रह्म के स्वरूप की ओर संकेत किया गया है।[3] जन्म-जरा-मरण के चक्र से बचने के प्रसङ्ग में ईशोपनिषद् में अविद्या (कर्म) द्वारा मृत्यु को पार कर विद्या (ज्ञान) से अमरत्व को प्राप्त किए जाने का विवेचन किया गया है। इसी प्रकार के विचार अन्य उपनिषदों में भी पाए जाते हैं।[4]

उपनिषदों में वेदों की तुलना में सामान्य जीवन के प्रति उल्लास व उन्मुखता न होकर उदासीनता पाई जाती है। इनमें भौतिक कामनाओं की पूर्ति के स्थान पर आत्मिक आनन्द की उपलब्धि लक्ष्य के रूप में प्रतीत होती है। आत्मा, ब्रह्म तथा मोक्ष का विवेचन किया गया है। मोक्ष के विषय में किसी स्थल पर **तद्विष्णोः परमं पदम्**[5] कहीं "**सा काष्ठा सा परा गतिः**"[6] एक अन्य स्थल पर **शाश्वतं सुखम्**[7] आदि कह कर वर्णन किया गया है।

उपनिषदों में जहाँ कर्मकाण्ड का विरोध किया गया, वहाँ सदाचार सम्बन्धी कर्मों का खण्डन नहीं किया गया है। धर्म के तीन मुख्य अङ्ग कहे गए हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान। साथ ही **सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा**—सत्य और तप के द्वारा उस आत्मा को प्राप्त किया जा सकता है, यह भी वर्णन किया गया है। सदाचार का पालन करते हुए मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष कहा गया है।

सामान्यतया वैदिक संहिताओं का सम्बन्ध ब्रह्मचर्य आश्रम से, ब्राह्मण ग्रन्थों का सम्बन्ध गृहस्थ से, आरण्यक ग्रन्थों का वानप्रस्थ से तथा उपनिषदों का सम्बन्ध संन्यास आश्रम से जोड़ा जाता है। इस दृष्टि से भी उपनिषद् काल में अन्य आश्रमों को महत्त्व दिए जाने की अपेक्षा संन्यास को ही अधिक महत्त्व दिया गया। फलतः प्रवृत्ति से विमुख करके निवृत्ति का उपदेश दिया गया।

---

1. कठोपनिषद्, 1-1-26।
2. छान्दोग्य, 8,12-1; मुण्डक 1-2-10।
3. बृहदारण्यक, 2,3,6।
4. ईश०, 1-11; केन, 1-2; मुण्डक, 3-2-6; कठ०, 1,1,17।
5. कठ०, 1-3-9।
6. कठ०, 1-3-11।
7. वही, 2-2-12।

बौद्ध-मत में निवृत्तिवाद

उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि जब समाज में एक ओर कर्मकाण्ड से भोगवादी सभ्यता का दर्शन हो रहा था, दूसरी ओर उपनिषदों के ऋषि समाज को भोगवाद से ऊपर उठाकर परा या ब्रह्मविद्या की ओर प्रवृत्त करने के लिए प्रयत्नशील थे। समाज में एक बौद्धिक सङ्कट उत्पन्न हो रहा था। उस समय महात्मा बुद्ध का पदार्पण हुआ। उन्होंने समाज की विषमता, जातपाँत की कुरीतियों और कर्म-काण्ड के विरुद्ध आवाज उठाई। जन-समूह को ऐसी शिक्षा दी जिसमें सबको अतिभोग से दूर रहने और तपस्या की कठोरता से पृथक् रहने की प्रेरणा थी। इस प्रकार महात्मा बुद्ध ने मध्यम मार्ग का उपदेश दिया, किन्तु संसार की असारता, नश्वरता तथा दुःखमयता का प्रतिपादन करने के कारण बौद्धमत का वास्तविक प्रभाव कुछ दूसरा ही पड़ा जिससे सबको घर गृहस्थी छोड़कर भिक्षु होने की प्रेरणा मिली। इस प्रकार बौद्ध मत एकांगी सिद्ध हुआ, इसमें निवृत्ति पराकाष्ठा पर पहुँच गई।

महात्मा बुद्ध ने चार आर्य सत्यों का निर्देश दिया—

1. संसार दुःखमय है,
2. दुःखों का कोई-न-कोई कारण है (दुःखसमुदय),
3. दुःखों का नाश होता है (दुःखनिरोध),
4. दुःखों के नाश के लिए उपाय भी हैं (दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद्)।

उन्होंने कर्म को बन्धन माना तथा सम्पूर्ण जगत् को शून्य पर आधारित केवल कल्पना मात्र कहा।

द्वितीय आर्यसत्य दुःखसमुदय के अन्तर्गत दुखों के कारण पर बल देते हुए बौद्ध विचारधारा में कारण-परम्परा को प्रतीत्य-समुत्पाद नाम दिया गया है। इसका आशय है कि प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने कारण को प्राप्त कर उत्पन्न होता है। इसको भवचक्र भी कहा जाता है जिसकी 12 कड़ियाँ या चक्रदण्ड कहे जाते हैं। यह भवचक्र आदि सब अविद्या है, दुःखमय है। अविद्या से उत्पन्न तृष्णा ही सब दुःखों का मूल है क्योंकि तृष्णा होने से ही भव अर्थात् संसार में लिप्त होने की प्रवृत्ति होती है।[1] अतः तृष्णा को त्यागने का उपदेश दिया गया है। इस प्रकार बौद्ध मत में तृष्णा का त्याग निवृत्ति की प्रेरणा देने वाला है।

बौद्ध मत में अष्टाङ्ग मार्ग[2]—अर्थात् सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन,

---

1. संयुत्त निकाय—निदान संयुक्त, विशुद्धि मग्ग 17।2।
2. दीघ निकाय 16 महापरिनिब्बान सुत्त 2-49, 58।

सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि के आलम्बन से दुःखनिरोध सम्भव कहा गया है। इन 8 प्रकार के आचरणों (अथवा आठ योगाङ्गों) से अन्तःकरण की शुद्धि होती है फलतः ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार अविद्या के विनाश से दुःख का विनाश या मोक्ष की प्राप्ति कही गई है। इस अष्टाङ्ग मार्ग में अन्तिम सर्वोच्च अवस्था सम्यक् समाधि पर बल देने से मानव को साधारण प्रवृत्त्यात्मक जीवन से एकदम निवृत्त करके मुक्त होने की प्रेरणा है। बौद्ध मत में मोक्ष को निर्वाण कहा गया है। इसकी तुलना दीप के बुझने से की गई है। महात्मा बुद्ध का कथन है कि निर्वाण का अर्थ है बुझ जाना, वासनाओं का शान्त हो जाना।[1]

उपर्युक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए महात्मा बुद्ध ने सीख दी कि जो व्यक्ति कर्म नहीं करेगा, उसके संस्कार भी पैदा न होंगे। जब संस्कार नहीं होंगे तो जन्म मरण का चक्र भी न रहेगा। शुभ-अशुभ दोनों तरह की इच्छाएँ हेय हैं, अतः इन इच्छाओं की पूर्ति के लिए किया जाने वाला कर्म भी प्राणी के लिए बन्धन मात्र है।

महात्मा बुद्ध के मतानुसार यह संसार तुच्छ है, हेय है, अविद्या का व्यामोह है। किसी वस्तु के अस्तित्व का अर्थ है उसकी क्षणिकता। क्षण शब्द का अर्थ अन्यत्र अल्प अस्तित्व के अनन्तर नष्ट होना है। यह विनाश अकस्मात् होता है, विनाश अभाव है।[2] बौद्धमत के जिन दो हीनयान और महायान, प्रमुख विभागों का उल्लेख मिलता है, उनमें से हीनयान के दोनों वैभाषिक और सौत्रान्तिक शाखावलम्बियों ने यद्यपि सर्वास्तिवाद को माना, अर्थात् जगत् की सत्ता को स्वीकार किया, पर उनके मतानुसार यह सत्ता प्रति-क्षण बदलती रहती है। इस प्रकार क्षणिकवाद पर बल देते हुए अन्ततः संसार को हेय कहा। उधर महायान के विज्ञानवाद और शून्यवाद शाखावलम्बियों ने जगत् को विज्ञप्ति मात्र अथवा शून्य मान कर उससे छूटने की ही बात कही। उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध मत के सिद्धान्तों की चर्चा पूर्ण निवृत्ति के ही परिवेष में है।

बौद्ध मत में आत्मा का अस्तित्व नहीं माना गया, अतः स्वत्व की कल्पना न होने से स्वधर्म स्वीकार नहीं किया गया। स्वधर्म न मानने से किसी भी कर्त्तव्य के प्रति मनुष्य को प्रेरणा नहीं मिलती, स्वत्व न रहने से मनुष्य के लिए किसी भी सुख का कोई स्थान नहीं रहा, तथा दुःखमय जगत् से छूटने पर ही बल दिया गया।

महात्मा बुद्ध ने जाति-व्यवस्था को समाप्त किया, उससे समाज में अव्यवस्था हो गई। सामाजिक अव्यवस्था होने से प्रवृत्ति के प्रति लोगों में अनास्था हुई तथा वे निवृत्ति की ओर उन्मुख हुए। (महाभारत में इसी अव्यवस्था को दूर करने के लिए पुनः जाति व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया) वस्तुतः महात्मा बुद्ध जाति व्यवस्था जन्म से न

1. धम्मपद—15 सुखवग्गो—203,7।
2. अभिधर्मकोश पृ० 4।

मानकर कर्म से मानने को कहते थे, पर इसका परिणाम निवृत्ति की ओर ही ले गया। उन्होंने ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य आदि सबको बिना किसी भेदभाव के मोक्ष का मार्ग बताया। सुन्दरिक भारद्वाज सुत्त[1] में कहा गया है—**मा जातिं पुच्छ चरणं च पुच्छ**—जाति मत पूछो, आचरण पूछो। सुत्त निपात के वासेट्ठ सुत्त[2] में कर्म के आधार पर ब्राह्मण कृषक आदि का वर्गीकरण किया गया है। महात्मा बुद्ध ने किसी भी जाति अथवा वर्ण के व्यक्ति के लिए बिना किसी भेदभाव के बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में जाने की प्रेरणा दी। महात्मा बुद्ध कर्म के आधार पर जाति को स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं पर उन्होंने जाति-भेद को कोई महत्त्व नहीं दिया। उनके इस प्रयास से जहाँ विभिन्न वर्णों की एकता प्रतिष्ठित हुई, वहाँ प्राचीन सामाजिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई।

महातमा बुद्ध को जिस प्रकार वर्ण-व्यवस्था स्वीकार न थी, उसी प्रकार आश्रम-व्यवस्था भी उन्हें मान्य न थी। प्राचीन वैदिक परम्परा थी **आश्रमात् आश्रमं गच्छेत्** एक आश्रम से दूसरे आश्रम में प्रगति करे।

ब्रह्मचर्य और गृहस्थ के कर्त्तव्य पूर्ण करने के बाद ही मनुष्य वानप्रस्थ में प्रवेश कर संन्यास आश्रम में जाते थे। ब्रह्मचर्य या गृहस्थ से सीधे संन्यासी होने की परम्परा नहीं थी। वैदिक परम्परा के कुछ उदाहरणों से प्रतीत होता है कि तत्कालीन विद्वानों ने मोक्ष-प्राप्ति के लिए मनुष्य का भिक्षु या संन्यासी होना आवश्यक नहीं माना। हाँ, अपवाद रूप में आश्रमोल्लङ्घन का उदाहरण उपनिषद् काल में जाबाल की घटना में तथा जाबाल उपनिषद् की इस धारणा में कहा जा सकता है; यथा—हमारे देश में जनक जैसे महात्मा हुए हैं जिन्हें गृहस्थी होते हुए भी जीवनमुक्त माना गया है। यह धारणा जो उपनिषदों में अपवाद रूप से आई है, बौद्ध मत में उसे नियम के रूप में स्वीकार किया गया है।

वैदिक आश्रम व्यवस्था महातमा बुद्ध के उपदेशों और निर्देशों से परिवर्तित हो गई। बुद्ध ने यह प्रथा चला दी कि बालक, युवक अथवा वृद्ध जब चाहे संन्यास ले सकता है तथा निर्वाण का अधिकारी वही हो सकता है जो गार्हस्थ्य धर्म का त्याग करके भिक्षु हो जाएगा। इसके परिणामस्वरूप बड़ी संख्या में सशक्त युवक जो खेतों एवं शिल्पगृहों में काम कर सकते थे, राष्ट्र की अभिवृद्धि में सक्रिय योग दे सकते थे, वे पीत वस्त्र पहन कर समाज पर बोझ बनने लगे। कहा जाता है कि मठों की परिपाटी पार्श्वनाथ ने चलाई थी। बौद्ध मत में इन मठों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई। सम्भवतः बौद्ध धर्म से पहले देश में स्त्रियों द्वारा अपने परिवार या समाज की मर्यादा में रखकर वानप्रस्थ का जीवन व्यतीत करने की परम्परा तो थी, पर उनके संन्यासी होने का प्रमाण नहीं मिलता। स्त्रियों के भिक्षुणी बनने की प्रथा प्रारम्भ होने से गृहस्थाश्रम को विशेष आघात पहुँचा।

इस विचारधारा के फलस्वरूप, स्वधर्म एवं परधर्म के भेद का औचित्य न रहने से

1. सुत्त निपात, 3, महावग्ग, 30 सुन्दरिक भारद्वाज सुत्त पृ० 89।
2. सुत्त निपात, 3 महावग्ग, 35 वासेट्ठ सुत्त पृ० 131।

स्वधर्म-पालन के महत्त्व को क्षति पहुँची। जन्म लेना ही बुरा है, क्योंकि जन्म लेने से ही जीवन के कष्टों का सामना करना पड़ता है। इसलिए उचित यही है कि हम ऐसी कोशिश करें कि आगे हमारा जन्म ही न हो। इस प्रकार जीवन को सारहीन और दुःखपूर्ण मानने से कर्मों को बन्धन युक्त और संसार को हेय मानने तथा गृहस्थ से संन्यास को अधिक महत्ता देने से समाज की प्रत्यक्ष हानि होने लगी।

वैदिक वाङ्मय के अनुशीलन के आधार पर प्राचीन आर्यों का जीवन के प्रति दृष्टिकोण आशा एवं उल्लासपूर्ण कहा जा सकता है। उस समय प्रवृत्ति प्रधान हुई। प्रवृत्ति का आधिक्य लोभ में परिणत होता है, उस अवस्था में व्यक्ति की आकाङ्क्षा संसार के समस्त उपभोग्य पदार्थों को प्राप्त करने की हो जाती है।

प्रवृत्ति की यह धारा उपनिषद् काल में कुछ अंश तक विद्यमान रही, परन्तु उसके साथ परमतत्त्व को समझने की जिज्ञासा बलवती हो गई। उपनिषदों के समय जीवन को हेय नहीं माना गया, वहाँ जीवन-निर्वाह के लिए सात्त्विक प्रयत्नों पर बल दिया गया। निरन्तर कर्मशीलता, त्यागपूर्वक जीवनोपयोगी पदार्थों के उपभोग एवं उच्च विचारों के अवलम्बन पर बल देते हुए यह सीख दी गई कि भौतिक सुख ही सब कुछ नहीं है। ऐसे भी कुछ गूढ़ परम तत्त्व विद्यमान हैं जिनका जानना साधक के लिए आवश्यक है।

समाज के सामान्य वर्ग को भोगवाद की ओर बढ़ते हुए तथा प्रबुद्ध वर्ग को आत्मिक चिन्तन में आबद्ध देखकर महात्मा बुद्ध जैसे तत्त्वचिन्तकों ने समाज की विषमता जातपाँत तथा कर्मकाण्ड के विरुद्ध आवाज उठाई। सदाचार, अहिंसा के मार्ग से संबद्ध होकर जीवनमुक्त होने की शिक्षा दी। कुछ ही समय में संन्यास व भिक्षुवृत्ति को महत्ता मिल गई। लोग हजारों की संख्या में घर छोड़कर भिक्षु बन गए। उनमें कुछ विद्वान् थे तथा कुछ कर्महीन, प्रमादी व्यक्ति भी पहुँच गए। इस प्रकार जन-सामान्य में अपने कर्त्तव्य-पालन के प्रति शिथिलता की भावना आ गई।

शान्तिपर्व के आलोचनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है कि कई सिद्धान्तों में शान्तिपर्व एवं बौद्ध मत दोनों में भिन्नता है और कई स्थलों पर दोनों में समानता है। जहाँ-जहाँ दोनों में भिन्नता प्रतीत होती है, वहाँ हमें यह कहना युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता कि बौद्ध मत का प्रतिकार करने के लिए ही महाभारत में उसके विरुद्ध सिद्धान्तों की स्थापना की गई है। इसके अतिरिक्त जहाँ दोनों में समानता दिखाई देती है, वहाँ महाभारत पर बौद्ध मत का प्रभाव कहा जाना भी हमें उचित नहीं लगता। महाभारत में वर्णित जो भी विचार हैं वे इस ग्रन्थ के स्वतन्त्र विचार हैं। इसमें प्रत्येक विषय का प्रतिपादन यथार्थ का चित्रण करते हुए किया गया है। उसके आदिपर्व में यह श्लोक है—**यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्**। यह उक्ति हमें सत्य प्रतीत होती है, इसके आलोक में यह कैसे माना जा सकता है कि महाभारत में वर्णित विषय उसके स्वतः प्रतिपादित न होकर अन्य मतों के विरोध अथवा प्रभाववश लिखे गए हैं। यह ग्रन्थ

अपने आप में पूर्ण है, इसमें जीवन की समग्रता अङ्कित है। अतः विभिन्न विचारों का प्रतिपादन यहाँ विभिन्न सन्दर्भों में किया गया है। अतः इसमें बौद्ध मत से कहीं साम्य व कहीं भेद दिखाई देता है। बौद्ध मत में जहाँ निवृत्ति पर बल दिया गया है, वहाँ महाभारत में प्रवृत्ति और निवृत्ति के सन्तुलन पर बल दिया गया ज्ञात होता है।

शान्तिपर्व एवं बौद्ध-सिद्धान्तों की तुलना

शान्तिपर्व के अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि जीवन में न केवल प्रवृत्ति ही वांछनीय है और न ही जीवन को केवल बन्धन युक्त व दुःखों से परिपूर्ण मानकर उसे छोड़ा जा सकता है। मनुष्य को न भोगवाद से तृप्ति हो सकती है और न ही शारीरिक सुखों का पूर्ण त्याग सम्भव है। शारीरिक भोगों में अत्यन्त आसक्ति मनुष्य को पतन के मार्ग पर ले जाती है। अतः न पूर्ण प्रवृत्ति सुखकर है और न पूर्ण निवृत्ति सम्भव है। फलतः दोनों का समन्वय अपेक्षित है।

महात्मा बुद्ध ने जहाँ संसार के दुःखमय होने और दुःखों से छुटकारे के लिए संसार-त्याग का उपदेश दिया, वहाँ महाभारतकार के अनुसार जीवन सुख-दुःखमय है। तथा दुःखों से छूटने के लिए संसार-त्याग को उचित नहीं कहा, बल्कि दुःखों का मुकाबला करते हुए अपने कर्त्तव्य-पालन करने पर बल दिया गया है।

वैदिक और श्रमण परम्परा के संन्यासियों की स्थिति में अन्तर दिखाई देता है। वैदिक विचारधारा के अनुसार संन्यासी के कर्त्तव्य के विषय में उल्लेख है कि वह सबके साथ दयापूर्ण व्यवहार करे, संयमी एवं मननशील रहते हुए भिक्षा में जो कुछ मिल जाए उसी से निर्वाह करे, सूने घर या वन में अकेला निवास करे। बौद्ध मत में संन्यासियों (भिक्षुओं) के द्वारा संघ बनाकर संघारामों में रहने का उल्लेख है। वे धनिक एवं नृपति उपासकों के यहाँ भोजन ग्रहण करने लगे। बौद्ध भिक्षुकों के भरण-पोषण के लिए संघारामों के साथ विपुल सम्पत्ति एवं गाँवों की व्यवस्था होने लगी।

बौद्ध परम्परा में संन्यास आश्रम को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। जब कि वैदिक विचारधारा में यद्यपि चारों आश्रमों को यथासमय महत्त्व दिया गया, तथापि गृहस्थाश्रम को अधिक गौरवपूर्ण स्थान दिया गया। शान्तिपर्व में सब आश्रमों और पोष्यजनों का पालनकर्त्ता होने से गृहस्थाश्रम की स्थिति सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। इस आश्रम में रहकर अन्त तक कर्मयोग में लगे रहने से इस आश्रम में भी मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है, तथा गृहस्थाश्रम के द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति हो सकती है—यह उल्लेख है। वैसे महाभारतकार के अनुसार श्रेयस्कर यही है कि गृहस्थी वृद्धावस्था में पुत्र को काम सौंप कर वानप्रस्थ और संन्यास की ओर प्रवृत्त हो जाए।

वैदिक परम्परा में संन्यास आश्रम का अधिकार तीनों वर्णों को है, दूसरी ओर

बौद्ध मत में शूद्रों के लिए भी संन्यासी या बौद्ध भिक्षु होने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रखा गया। फलत: उसका प्रभाव समाज के वातावरण पर पड़ा। शान्तिपर्व में एक स्थल पर ब्राह्मणों को संन्यास लेने का अधिकारी कहा गया है। एक अन्य स्थल पर यद्यपि शूद्र को भी संन्यास का अधिकारी कहा है पर उसके लिए तीनों वर्णों की योग्यता होने की आवश्यक शर्त रखी गई है। यह भी उल्लेख है कि जो शूद्र पुराण आदि द्वारा वेदान्त सुनना चाहता हो, त्रिवर्णों की सेवा कर चुका हो, उसके लिए सब आश्रम विहित हैं।

महाभारत में सन्दर्भत: तीन प्रकार का दृष्टिकोण मिलता है। एक धारणा के अनुसार केवल ब्राह्मण, संन्यास के अधिकारी हैं, दूसरी धारणा के अनुसार ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य तीनों अधिकारी हैं, तीसरी के अनुसार शूद्र भी अधिकारी हो सकते हैं, यदि वे योग्य हों। शूद्र के लिए भिक्षावृत्ति के विषय में शान्तिपर्व में उल्लेख है कि वह शूद्र-जो मनुप्रोक्त दस धर्मों (धृति, क्षमा, मन का निग्रह, चोरी का त्याग, बाह्य एवं आन्तरिक पवित्रता, इन्द्रिय-निग्रह, सात्त्विक बुद्धि, सात्त्विक ज्ञान, सत्य भाषण एवं क्रोध का त्याग) का आचरण करने वाला हो—भिक्षा मांग कर जीविका-निर्वाह कर सकता है—

> मैक्ष्यचर्या नम: प्राहुस्तस्य तद्धर्मचारिण:।
> तथा वैश्यस्य राजेन्द्र राजपुत्रस्य चैव हि। शा० अ० 63, श्लो० 14

जब कि बौद्ध मत में सभी को भिक्षु बनने का अधिकारी घोषित किया गया। महाभारत वर्णित तृतीय दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए ऐसा कहा जाना यों अनुचित नहीं होगा कि इस विषय में भी महाभारत एवं बौद्ध मत में विशेष असमानता नहीं है।

शान्तिपर्व में कहा गया है—"यह शोभनीय नहीं है कि मानव-मानव को दास बना कर रखे। अपनी ही जाति को रात-दिन बन्धन और नियन्त्रण में रखना उचित नहीं है।[1] यहाँ पर जाति शब्द का तात्पर्य मनुष्य मात्र से है। शान्तिपर्व से यह भी ध्वनित होता है कि महाभारतकार के अनुसार शूद्रों के लिए इन अधिकारों का संकेत है कि वे स्वतन्त्र धन्धों में लगकर अपना पेट भरें। वे श्राद्ध आदि कर्म के अधिकारी भी स्वीकार किए जाएं और अपनी स्थिति के अनुसार दान भी देते रहें। जैसा कि एक स्थान पर उल्लेख है कि यदि स्वामी सम्मानहीन हो तो सेवा करने वाले शूद्र को ही उसके लिए पिण्डदान करना चाहिए। यदि स्वामी वृद्ध व दुर्बल हो अथवा स्वामी के धन का नाश हो जाए तो शूद्र को अपने परिवार के पालन से बचे हुए धन के द्वारा उसका भरण-पोषण करना चाहिए—

---

1. शान्ति० 262-38-39 (सातवलेकर), अध्याय 254 श्लोक 38-39 (भण्डारकर)

देय: पिण्डोऽनपत्याय भर्तव्यौ वृद्धदुर्बलौ
शूद्रेण तु न हातव्यो भर्ता कस्याञ्चिदापदि
अतिरेकेण भर्तव्यो भर्ता द्रव्यपरिक्षये । शा० 60-35, 36

जिस प्रकार भिक्षा मांगने के अधिकारी केवल ब्राह्मण कहे गए, उसी प्रकार सेवा करने का दायित्व शूद्रों का माना गया। इसी प्रसंग में शान्तिपर्व में वर्णन किया गया है कि ब्राह्मणों का भी कर्त्तव्य है कि वे अपने आश्रित शूद्रों का भली प्रकार भरण-पोषण करें। बौद्ध मत में चूंकि वर्ण-व्यवस्था पर बल नहीं दिया गया, अत: वहाँ शूद्रों के कर्त्तव्य व उनकी स्थिति के विषय में ऐसा विशद वर्णन उपलब्ध नहीं होता।

बौद्ध धर्म में पाँच शीलों पर बल दिया गया, (1) किसी को क्षत न करना—जीवन का विनाश न करना, (2) चोरी न करना, (3) विषय सम्बन्धी अपवित्रता से बचना, (4) झूठ न बोलना, (5) मद्यपान न करना। इन पाँच के साथ वरिष्ठ बौद्ध भिक्षुओं के लिए पाँच शील और जोड़े गए— (1) निषिद्ध समय पर भोजन न करना, (2) नृत्य-संगीत आदि मनोरंजनों में सम्मिलित न होना, (3) विशाल सजे हुए वाहनों पर सवारी न करना, (4,5) सोना-चाँदी तथा दूसरे उपहार स्वीकार न करना।

महाभारत में भी शील की महत्ता पर विशेष बल दिया गया है। यक्ष द्वारा किए प्रश्न में स्पष्ट कहा गया है कि ब्राह्मणत्त्व के लिए कुल-वेदाध्ययन अथवा विद्वत्ता ही कारण नहीं है, आचरण या शीलही ब्राह्मणत्व का कारण है। चारों वेद पढ़ा हुआ ब्राह्मण भी यदि आचरणहीन है तो वह शूद्र से भी अधिक निन्दनीय है। इसी प्रकार शान्तिपर्व में वर्णित प्रह्लाद और इन्द्र के सम्वाद में भी शील को महत्त्व दिया गया है। इससे ज्ञात होता है कि महाभारतकार ने धर्म, सत्य, बल और ऐश्वर्य का मूल आधार व्यक्ति का शील या आचरण ही समझा।

धर्मशास्त्र का इतिहास ग्रन्थ के प्रणेता श्री पाण्डुरङ्ग वामन काणे का विचार है कि बौद्ध धर्म के पाँच शील उपनिषदों तथा धर्मशास्त्रों की शिक्षा से ग्रहण किए गए। छान्दोग्य में उल्लेख है कि केकय के राजा अश्वपति ने पाँच बड़े गृहपतियों और धर्म-शास्त्रियों के सम्मुख कहा था—"मेरे जनपद में न कोई चोर है, न कोई कृपण तथा शराबी है। सभी यज्ञशील और विद्वान् हैं, ऐसी अवस्था में अनाचारी स्त्री व पुरुष होने की बात ही नहीं उठती।"[1] शील के विषय में बौद्धों का दृष्टिकोण निवृत्ति के ही पक्ष में हैं, जब कि महाभारत में शील का वर्णन विशेष सन्दर्भ में है।

सामान्य धारणा यही है कि अहिंसा का सर्वप्रथम उपदेश महात्मा बुद्ध और भगवान महावीर ने किया। पर यह धारणा पूरी तरह ठीक नहीं है। महाभारत में अहिंसा एवं हिंसा दोनों का अलग-अलग प्रतिपादन भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में किया गया है। यज्ञों

1. छान्दोग्य उप० 5-11-5।

में पशु-बलि का विधान था, सम्भवतः उनका माँस-भक्षण भी प्रचलित था। महाभारत में यह उल्लेख भी किया गया है कि वनवास के समय पाण्डव मृगया से अपना जीवन-यापन करते थे। महाभारत में कई पशुओं का माँस वर्जित घोषित किया गया है। शान्ति-पर्व में भीष्म ने विषैले माँस वाले प्राणी, जलचर आदि अभक्ष्य कहे हैं। इससे कहा जा सकता है कि महाभारत में पूर्ण रूप से माँसभक्षण का विरोध नहीं किया गया। पर कई स्थलों पर अहिंसा का भी समर्थन किया गया है। भिन्न-भिन्न सन्दर्भ में हिंसा तथा अहिंसा दोनों के पक्ष में उदाहरण पाए जाते हैं।

महाभारत के अनुशासन पर्व में भीष्म पितामह द्वारा अहिंसा के सम्बन्ध में कहा गया कि मनुष्य मन, वचन, कर्म और खान-पान द्वारा अहिंसक रहे। तप करने वालों के लिए मांसाहार उचित नहीं है। माँस खाने वाले पाप करते हैं और उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती। इससे यह संकेत मिलता है कि जो तप न कर रहे हों, वे माँसाहार कर सकते हैं।

युधिष्ठिर ने अहिंसा की श्रेष्ठता सम्बन्धी कथन को श्राद्ध में माँसाहार के प्रति-कूल कहा। इस पर भीष्म ने उत्तर दिया कि जिसको आयु, बुद्धि, बल और स्मृति की इच्छा है उसे हिंसा का त्याग करना चाहिए। महाभारत के शान्तिपर्व में बौद्ध धर्म के समान केवल अहिंसा को ही साध्य न मानकर विभिन्न अवस्थाओं में हिंसा तथा अहिंसा दोनों का प्रतिपादन किया गया है। महाभारत में पाण्डवों द्वारा किए गए अश्वमेध यज्ञ के वर्णन में सैंकड़ों प्राणियों के मारने का उल्लेख है। इसके साथ ही पशु-वध युक्त यज्ञ एवं माँस-भक्षण की निन्दा करने वाले नेवले के आख्यान में अश्वमेध के पुण्य की अपेक्षा भूखे अतिथि को मुट्ठी भर अन्न देकर वानप्रस्थ परिवार द्वारा अधिक पुण्य संचित करने से माँसाहार की निन्दा स्पष्ट प्रतीत होती है। इसी तरह वन-पर्व के धर्म-व्याध-सम्वाद में हिंसा तथा माँसान्न का समर्थन है तो शान्तिपर्व के तुलाधार-जाजलि-सम्वाद में हिंसा तथा माँसाहार की निन्दा की गई है जब कि बौद्ध मत में पूर्ण रूप से अहिंसा पर ही बल दिया गया है।

शान्तिपर्व में कई विभिन्न नीति-सम्वाद तथा उदाहरण कथाएँ हैं जिनमें अहिंसा तत्त्व को स्वीकार किया गया है। उपनिषदों, पुराणों, महाभारत, बौद्ध तथा जैन धर्म-ग्रन्थों में कई एक जैसी नीति-कथाएँ तथा आचार-धर्म की उक्तियाँ उपलब्ध होती हैं। शत्रु से प्रेम और आत्म-बलिदान के एक अपूर्व उदाहरण के रूप में शान्तिपर्व की शिकारी और कपोतों की कथा प्रस्तुत की जा सकती है। इस कथा में शिकारी द्वारा पकड़ी गई कपोती को बचाने के लिए कपोत द्वारा अग्नि में कूद कर अपने प्राण-त्याग का वर्णन है। यह दृश्य देखकर शिकारी का हृदय पिघल जाता है और वह शिकार की वृत्ति छोड़कर

साधु बन जाता है।[1] इस प्रकार की बहुत सी लोककथाएँ बौद्ध जैन कथाओं के तुल्य मालूम होती हैं, जिनमें तरह-तरह के नीति-सन्देश मिलते हैं।

महाभारत में विशेषतः शान्तिपर्व के नीति-सम्वादों, उदाहरण, कथाओं एवं पशुकथाओं में धर्म के समन्वित रूप पर बल दिया गया है। शान्तिपर्व में उल्लेख है वासना के योग से कर्म होता है, कर्मों के योग से वासना होती है। इस प्रकार यह अनादि और अनन्त चक्र चलता रहता है, पर जिस प्रकार अग्नि में दग्ध हो जाने पर बीज अङ्कुरित नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञान रूपी अग्नि में अविद्या आदि क्लेशों के दग्ध हो जाने पर पुनर्जन्म की प्राप्ति नहीं होती।[2] महाभारतकार की इस उक्ति में ब्राह्मण और श्रमण तत्त्ववाद एक हो गए हैं।

मन जब शान्त हो जाए, तब सब वृत्तियां शान्त हो जाती हैं। उस समय वातावरण उपनिषद् की तत्त्वचर्चा और बुद्ध के गहन चिन्तन के अनुरूप हो जाता है। शान्तिपर्व में उल्लेख है, "आशाएँ और आकाङ्क्षाएँ जब छूट जाती हैं, तब तृष्णा का अन्त हो जाता है और व्यक्ति सुख की नींद सो जाता है।"[3] भारतीय संस्कृति की ब्राह्मण एवं श्रमण विचारधाराओं का समन्वित रूप शान्ति पर्व के उक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है।

निष्कर्ष

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि शान्तिपर्व और बौद्धमत में वर्णित सिद्धान्तों में कहीं समानता प्रतीत होती है और कहीं विभिन्नता। जो विद्वान् शान्तिपर्व को बौद्ध वाङ्मय के पश्चात् लिखा गया मानते हैं उनके अनुसार शान्तिपर्व महाभारत का प्रक्षिप्त अंश है जो बाद में जोड़ा गया। इसीलिए वे इस पर्व में वर्णित सिद्धान्तों को बौद्ध मत के सिद्धान्तों के प्रतिकार अथवा उसके प्रभाव के फलस्वरूप प्रतिपादित किया गया मानते हैं। इस सम्बन्ध में कुछ विद्वान् शान्तिपर्व में प्रयुक्त 'बुद्ध' शब्द को शान्तिपर्व पर बौद्धमत के प्रभाव का प्रतीक मानते हैं, पर इस सम्बन्ध में मेरा विनम्र निवेदन है कि यद्यपि महाभारत के शान्तिपर्व में यह पंक्ति विद्यमान है—

---

1. शान्तिपर्व, अध्याय 143 से 147, (सातव० सं०) अ० 141 से 145 (भण्डारकर)
2. शान्ति० अ० 211, श्लो० 7,8,17 (सातवलेकर)
   अ० 204, श्लो० 7,8,16 (भण्डारकर)।
3. शान्ति पर्व, अ० 178, श्लो० 8 (सातव० सं०) अ० 171 के श्लोक 161 के बाद नीचे फुटनोट में (भण्डारकर)।

एतद् बुद्ध्वा भवेद् बुद्धः किमन्यद् बुद्धलक्षणम् तथापि वहां **बुद्ध** शब्द महात्मा बुद्ध के लिए प्रयुक्त नहीं है। वहां बोध या ज्ञान के प्रसङ्ग में यह शब्द आया है। जब मनुष्य तत्त्वज्ञान होने से संसार की क्षणभङ्गुरता को, इस भौतिक जगत् में आवागमन के बन्धन को जान लेता है तथा तत्त्वदर्शी होकर आत्मा के स्वरूप को पहचान लेता है तब साँसारिक सुखों से विरक्त होकर कैवल्य या मोक्ष की ओर उन्मुख होता है। उस अवस्था में बोधयुक्त होने से वह बुद्ध कहा जाता है।

शान्तिपर्व में ही एक अन्य स्थल पर बोधस्वरूप होने से परमात्मा के लिए बुद्ध तथा जीवात्मा के लिए बुध्यमान शब्द का प्रयोग किया गया है—

बुद्धमप्रतिबुद्धत्वाद् बुध्यमानं च तत्त्वतः।
बुध्यमानं च बुद्धं च प्राहुर्योगनिदर्शनम्।

शा० अ० 308. 48 (सातवलेकर)

योगसाधना के क्षेत्र में परमात्मा बोधस्वरूप है और अज्ञान का आश्रय ग्रहण कर जीवात्मा इस जगत् में सदा क्रीड़ा करने के लिए ही विकार को प्राप्त करता है। वह अव्यक्त प्रकृति को जानता है इसलिए ऋषि मुनि उसे बुध्यमान कहते हैं—

अजस्रं त्विह क्रीडार्थे विकरोति जनाधिप :
अव्यक्तबोधनाच्चैव बुध्यमानं वदन्त्यपि। 308-3
न चैष तत्त्ववांस्तात निस्तत्त्वस्त्वेष बुद्धिमान्
एष मुञ्चति तत्त्वं हि क्षिप्रं बुद्धस्य लक्षणम्। 308-15

जब बुध्यमान जीव कैवल्य स्थिति तक पहुँचता है तब वह बुद्ध होता है। शान्तिपर्व के इन उदाहरणों से प्रतीत होता है कि यहाँ **बुद्ध** शब्द महात्मा बुद्ध से अभिप्रेत नहीं है।

उन विद्वानों के मतानुसार शान्तिपर्व महाभारत की मुख्य कथा का भाग नहीं है। अतः यदि इसको पृथक् भी कर दिया जाए तो उससे कथा के तारतम्य में कुछ अन्तर नहीं पड़ेगा, पर हमें यह मत समुचित नहीं जान पड़ता। शान्तिपर्व महाभारत का अभिन्न अंग है, जिसको इस ग्रंथ से पृथक् नहीं किया जा सकता। यदि इसको महाभारत की मुख्य कथा के अनन्तर भी लिखा गया माना जाए, तो भी यह उसमें इतना एकाकार हो चुका है जैसे नदी की धारा समुद्र में मिलकर एक हो जाती है, वहाँ उसके और समुद्र के पानी में कोई अन्तर नहीं रह जाता। महाभारत की आद्योपान्त कथा शृङ्खलाबद्ध है—युद्ध के पश्चात् युधिष्ठिर को वैराग्य होने पर भीष्म पितामह के द्वारा उसको राजधर्म से लेकर मोक्ष तक पूरा उपदेश उचित क्रम से दिया गया है। शान्तिपर्व

को निकाल देने से उस क्रम में व्याघात पड़ सकता है। अतः यह उस शृङ्खला की एक कड़ी है।

शान्तिपर्व और बौद्ध मत में कहाँ तक समानता और कहाँ तक विभिन्नता है, साथ ही महाभारत का शान्तिपर्व जीवन की समग्रता का द्योतक कहाँ तक है—यह हमारे अध्ययन का मुख्य लक्ष्य है। इसी सन्दर्भ में हमने अपने विचारों को आचार, सामाजिक रीति-नीति, राजधर्म तथा दार्शनिक एवं धार्मिक विचारधारा—इन अध्यायों में विभक्त कर प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयत्न किया है।

अध्याय दो

आचार

इस अध्याय में हमने आचार के सम्बन्ध में शान्तिपर्व और बौद्ध वाङ्मय में जो जो विचार उपलब्ध होते हैं, उन पर दृष्टिपात करने का प्रयत्न किया है। शील एवं पुरुषार्थ की चर्चा इस सन्दर्भ में अवश्यम्भावी है, इसीलिए शील के विभिन्न पक्षों एवं पुरुषार्थ के—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों अंगों पर का दोनों विचारधाराओं की दृष्टि से अध्ययन किया है। इनके अतिरिक्त उन मुख्य अवधारणाओं की—जो शान्ति पर्व एवं बौद्ध वाङ्मय में प्रमुख स्थान रखती हैं—भी तुलनात्मक दृष्टि से परीक्षा की है। वे हैं—शरण, श्रद्धा, सन्तोष, सत्य, इन्द्रिय-दमन एवं कामनाओं का त्याग, जप, तप, त्याग तथा हिंसा और अहिंसा।

अहिंसा के विषय में कुछ वर्णन शील के प्रकरण में भी किया है, क्योंकि बौद्धमत के पञ्चशील में प्रथम शील अहिंसा से ही सम्बन्धित है। इसके अतिरिक्त अहिंसा का प्रकरण पृथक् रूप से भी रखा है, क्योंकि दोनों विचारधाराओं में इसका विशेष महत्त्व है।

मनुष्य की उच्चता एवं निम्नता उसके कार्यों तथा आचरण पर अवलम्बित होती है। महाभारत के शान्तिपर्व में इस नैतिकता और आचरण के लिए शील शब्द का प्रयोग किया गया है। धर्म की पवित्रता और आचार की सात्विकता शील शब्द में सन्निहित है। यद्यपि धर्म में कर्तव्य एवं दायित्त्व अधिक होता है, परन्तु जब धर्म सम्बन्धी उत्तरदायित्व मनुष्य के स्वभाव का अङ्ग बन जाए, तब वह **शील** हो जाता है। मानवीय शील में धार्मिक पवित्रता और चरित्र के सौन्दर्य का समावेश होता है। शान्तिपर्व में प्राणिमात्र के प्रति मन वचन और कर्म से स्नेह, प्रीति और परोपकार को उत्तम शील कहा गया है। शील का स्वरूप प्रदर्शित करते हुए धृतराष्ट्र ने कहा—हमें

वे कार्य और प्रयत्न नहीं करने चाहिएँ, जिनसे दूसरों का अहित हो।[1] महाभारत के शान्ति-पर्व में शील को आचार का मुख्य प्रतीक बनाया गया है।

महाभारत की तुलना में बौद्ध धर्म का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि बौद्ध धर्म मूलतः आचार धर्म माना गया है। इस धर्म में प्रारम्भ से ही नैतिक चरित्र एवं आचरण पर विशेष बल दिया गया है। व्यक्ति का अच्छा या बुरा होना, सुखी या दुःखी होना उसके कार्यों एवं आचरण पर निर्भर है। इस धर्म में सदाचार, लोकसेवा एवं त्याग आदि नैतिक तत्त्वों पर विशेष बल दिया गया है। साधक एवं योगी के लिए करुणा का विकास आवश्यक माना गया है। जिनके हृदयों में सेवावृत्ति का उन्मेष नहीं होता, उनमें करुणा की भावना भी नहीं होती।

महाभारत में परोपकार की भावना को कर्तव्य के रूप में लिया गया है। बौद्ध धर्म में संसार को दुःखमय मानने के कारण परोपकार करुणा के भाव से युक्त है।

शील

शांतिपर्व के 124वें अध्याय में प्रह्लाद की कथा का वर्णन है। "असुरों का पराभव करने के लिए इन्द्र ने असुर राजा प्रह्लाद से उनका शील माँगा था। प्रह्लाद द्वारा शील देते ही उसके साथ श्री और लक्ष्मी भी बाहर चली गईं। उस समय लक्ष्मी ने बताया था कि जहाँ शील रहता है, वहाँ धर्म सत्य और शक्ति निवास करते हैं।" इस घटना के वर्णन से प्रतीत होता है कि महाभारतकार का आशय यहाँ राज्य और वैभव का आधार शील और आचार को बताना है। इसी बात को पुष्ट करने के लिए उन्होंने उल्लेख किया है कि मान्धाता, जनमेजय, नाभाग, प्रह्लाद आदि ने शील द्वारा पृथ्वी का राज्य प्राप्त किया था।

इसी प्रकार बौद्ध ग्रंथ जातक में एक ब्राह्मण की कथा मिलती है।[2] "एक ब्राह्मण बहुत विद्वान् होने से अपने देश के राजा द्वारा अन्य सब ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक सम्मानित होता था। एक बार उसके मन में यह जिज्ञासा हुई कि सदाचार का अधिक महत्त्व है अथवा बहुश्रुत होने का। इसके समाधान के लिए उसने एक सराफ के यहाँ से कुछ मुद्राएं चुरा लीं। चोरी करने पर उसको पकड़कर राजा के पास ले जाया गया तथा उसका सब सम्मान नष्ट हो गया। राजा द्वारा पूछे जाने पर उसने यथार्थ बात सबके सामने रखी।" इससे ज्ञात होता है कि जहाँ महाभारत के शान्तिपर्व में शील और

---

1. महाभारत शान्तिपर्व अ0 124, श्लोक 64-66 (भण्डारकर)।
2. वण्णारोह वर्ग (5.2 362) सीलवीमंस जातक (तृतीय खण्ड) पृष्ठ 355।

सदाचार को राज्य और वैभव का आधार कहा गया है वहाँ बौद्ध धर्म में उसे प्रतिष्ठा और यश का आधार कहा गया है।

आचार के प्रकरण में शान्तिपर्व में वर्णन किया गया है—"अपने से बड़ों, बुजुर्गों का सम्मान कर उन्हें प्रणाम करना तथा सम्मानित स्थान में बैठाना उचित है। बड़ों एवं गुरुजनों का सम्मान करने से मनुष्य परमायु, यश और सम्पत्ति प्राप्त करते हैं।[1] इसी प्रसङ्ग में बौद्ध धर्म के ग्रन्थ धम्मपद के सहस्सवग्गो में भी इन्हीं शब्दों में वर्णन उपलब्ध होता है।[2]

मनुष्य के अच्छे आचरण के विषय में शान्तिपर्व में एक स्थान पर उल्लेख है—"धर्मात्मा पुरुष दुष्टता, लोकापवाद, झूठ बोलना, स्तुति, निन्दा, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या और अवमानना आदि की आलोचना नहीं करते।"[3] इसकी तुलना में धम्मपद में वर्णन है "मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह दूसरों के दोष कभी न देखे, किसी का अपकार न करे, राग, द्वेष, मान और दम्भ से दूर हो जाए। यहां महाभारत और बौद्ध-धर्म में यद्यपि समानता प्रतीत होती है, तथापि गहराई में विचार करने से दोनों में भिन्नता भी ज्ञात होती है। अपमान की आलोचना न करने के सम्बन्ध में शान्तिपर्व में जो उल्लेख किया गया है वह विशेष सन्दर्भ में है। महाभारत में दुःशासन द्वारा द्रौपदी के किए गए अपमान का बदला लेने के लिए भीम को समय-समय पर प्रेरित किया गया है। महाभारत का युद्ध उसी अपमान का प्रतिकार लेने के परिणामस्वरूप हुआ। इसके विपरीत बौद्ध धर्म में सदाचरण सम्बन्धी कथन सिद्धान्त रूप में है। वहाँ किसी के अपमान का बदला लेने की बात नहीं कही गई है।

शील के सम्बन्ध में महाभारतकार ने शान्तिपर्व में कहा है—"आचारवान् शील सम्पन्न व्यक्ति सब जीवों के हितैषी, आत्मज्ञानी तथा सब प्रकार की विषयासक्ति से रहित होते हैं। वे किसी जीव से नहीं डरते और उनसे भी किसी जीव को भय नहीं होता। वे सब प्राणियों में समदृष्टि रखते हैं।"[4] इसकी तुलना में महात्मा बुद्ध का कथन है कि "शील से सम्पन्न मनुष्य जिस-जिस देश में जाता है वहीं-वहीं पूजित होता है।"[5] यद्यपि यहाँ महाभारत और बौद्ध धर्म में बाह्य दृष्टिकोण से समानता

---

1. महाभारत शान्तिपर्व 186 अ० श्लोक 15 (भण्डारकर)
2. अभिवादनसीलस्स निच्चं वद्धापचायिनो—धम्मपद 8 सहस्सवग्गो 109।
   अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः
   चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्। मनुस्मृति 2-121।
3. महाभारत शान्तिपर्व, अ० 154 श्लोक 15 से 18 (भण्डारकर)।
4. शान्तिपर्व अ० 154, श्लोक 22-24 (भण्डारकर)।
5. धम्मपद, 21 पकिण्णकवग्गो 303, 14।

प्रतीत होती है, तथापि बुद्ध के कथन में आध्यात्मिकता तथा यश का संकेत होता है। कोई मनुष्य पूजा का पात्र तभी होता है जब दूसरों के मन में उसके प्रति भक्ति भाव उत्पन्न होता है। इस प्रकार यहाँ महाभारत की अपेक्षा बौद्ध धर्म में शील को अधिक ऊंचा स्थान दिया गया है।

मानव का आचार धर्म क्या हो, वह किस प्रकार के आचरण, चरित्र एवं शील के आधार पर प्रगति कर सकता है? इस विषय में शान्ति पर्व के मोक्षधर्म पर्व में असित देवल और जैगीषव्य का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। असित देवल ने मुनि जैगीषव्य के आचरण के विषय में जिज्ञासा करते हुए पूछा था—"वह व्यक्ति कैसा है जो स्तुति से प्रसन्न नहीं होता और निन्दा करने पर क्रोध नहीं करता? जैगीषव्य ने कहा—बुद्धिमान् स्तुति-निन्दा में समान रहते हैं। स्तुति-निन्दा करने वालों के आचार व्यवहार को गोपनीय रखते हैं।[1] इसके साथ महात्मा बुद्ध की उस कथा की समानता है जिसमें कहा गया है—"जिस प्रकार किसी के द्वारा धन दिए जाने पर यदि हम न लें तो वह धन उसी के पास रह जाता है। उसी प्रकार किसी के द्वारा गाली देने पर जब हम स्वीकार ही नहीं करेंगे, तो उसकी गाली उसी के पास रह जाएगी। उससे हमारा कोई अनिष्ट नहीं होगा, अपितु गाली देने वाले का ही मुंह दूषित होगा।" मनुष्य स्तुति व निन्दा दोनों ही परिस्थितियों में समरस रहे, इसको दोनों ही विचार-धाराओं में स्वीकार किया गया है—ऐसा कहा जा सकता है।

पवित्रता के विषय में शान्तिपर्व में वर्णन किया गया है—"सच्चा हृदय ही सर्वश्रेष्ठ तीर्थ है। हृदय की पवित्रता ही श्रेष्ठतम है।" इसकी तुलना में बौद्ध ग्रन्थ में वर्णन है—"आचारवान् व्यक्ति के लिए चित्त या मन की शुद्धि आवश्यक होती है।" इस प्रकार दोनों मतों में अच्छे आचार के साथ-साथ मानसिक शुद्धि को प्रधानता दी गई है।

आचारवान् व्यक्ति के वैर-भाव के विषय में शान्तिपर्व में उल्लेख है कि "बुद्धिमान मनुष्य आघात करने वाले से बदला नहीं लेते।"[2] इसी विषय में महात्मा बुद्ध का कथन है "इस संसार में वैर से वैर कभी नहीं मिटता। वैर न करने से, मित्रता करने से वैर मिटता है। यही सनातन धर्म है। जो कोई दूसरों को दुःख देकर अपने लिए सुख चाहता है, वह वैर से कभी नहीं छूटता।"[3] यहाँ शब्दों की दृष्टि से यद्यपि दोनों ग्रन्थों में समानता प्रतीत होती है तथापि वस्तुस्थिति यह नहीं है। शान्तिपर्व में यह वर्णन विशेष सन्दर्भ में है, महाभारत के घटनाचक्र में वैर का बदला वैर से लिए जाने के भी

---

1. शान्तिपर्व अ० 222, श्लो० 8-10 (भण्डारकर)
2. शान्ति० अ० 222, श्लोक 8-10 (भण्डारकर)
3. धम्मपद, 1 यमक वग्गो—5।

सन्दर्भत: संकेत मिलते हैं, तथा वहाँ उसे उचित माना गया प्रतीत होता है। दूसरी ओर बौद्ध ग्रन्थ में वैरी के प्रति मित्रता की भावना सिद्धान्त रूप में ज्ञात होती है।

जहाँ महाभारत में शील शब्द का प्रयोग सद्गुण, नैतिकता सज्जीवन, शुचिता, ईमानदारी एवं सौन्दर्य आदि अर्थों में किया गया है, वहाँ बौद्ध ग्रन्थों में भी शील शब्द बहुत व्यापक अर्थों में प्रयुक्त है। वहाँ दस शील का वर्णन किया गया है—

1. **प्राणातिपात** (प्राणिहिंसा) से विरति
2. **अदत्तादान**(चोरी) से विरति
3. **काममिथ्याचार** (व्यभिचार) से विरति
4. **मृषावाद** (असत्य भाषण) से विरति
5. **सुरामेरयमद्य** प्रमादस्थान (मादकद्रव्यों की मादकता) से विरति
6. **परुषवाक्** (कटुवचन) से विरति
7. **सम्प्रलाप** (बकवाद) से विरति
8. **अव्यापाद** (वैमनस्य) से विरति
9. **अनभिध्या** (अतिलोभ) से विरति
10. **सम्यग्दृष्टि** (मिथ्यादृष्टि) से विरति

इनमें से आरम्भिक पाँच शील सभी के लिए बहुत आवश्यक कहे गए हैं। तथा प्रारम्भिक सात शील आदि ब्रह्मचर्य-शील नाम से कहे गए हैं। आदि ब्रह्मचर्यक शील का किसी प्रसङ्ग में त्याग न करना अधिशील-शिक्षा के नाम से वर्णन है। पिछले पाँच तत्त्व भिक्षुणियों और भिक्षुओं की मर्यादा प्रदर्शित करने वाले हैं। यद्यपि बुद्ध, धर्म और संघ के त्रिरत्न की शरण तथा प्रारम्भिक पाँच अनुशासनों का पालन प्रत्येक बौद्ध धर्मावलम्बी के लिए आवश्यक माना गया, तथापि एक सामान्य बौद्धजन और भिक्षु के मध्य एक सीमा रेखा निर्धारित की गई। इस प्रकार महात्मा बुद्ध ने दो प्रकार की नैतिकता का शिक्षण दिया है—पहली शिक्षा सामान्यजनों के लिए है तो दूसरी निर्वाण प्राप्त करने के लिए भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों के सम्बन्ध में है। बौद्ध मतानुसार साधक अष्टाङ्गिक मार्ग या पारमिता मार्ग का अनुसरण कर निर्वाण प्राप्त कर सकता है। बौद्ध धर्म की शाखा हीनयान में अष्टाङ्गिक मार्ग के आश्रय पर बल दिया गया है, और महायान में पारमिता मार्ग के आश्रय पर। अष्टाङ्गिक मार्ग से उनका अभिप्राय था—

1. **सम्यक् दृष्टि**—चार आर्य सत्यों में पूर्ण विश्वास
2. **सम्यक् संकल्प**—अकार्य को न करने का संकल्प
3. **सम्यक् वचन**—असत्य भाषण से दूर रहना
4. **सम्यक् कर्माल**— प्राणि हिंसा तथा दुराचार आदि से बचना
5. **सम्यक् आजीव**—सत्य प्रकार से आजीविका चलाना
6. **सम्यक् व्यायाम**—मानसिक दोषों को पराजित करना

7. **सम्यक् स्मृति**—जन्म, जरा, मृत्यु का सदैव स्मरण रखना
8. **सम्यक् समाधि**—राग द्वेषादि से शून्य चित्त की एकाग्रता

पारमिता या पार पहुँचने से अभिप्राय है साधना की उच्चतम कोटि तक पहुंच जाना। महायान ग्रन्थों में मुख्य रूप से 6 पारमिताओं का वर्णन है—

1. **दान पारमिता**—दूसरों के हित के लिए स्वार्थ-त्याग
2. **शील पारमिता**—कोई भी दुष्कर्म मन, वचन, कर्म से न करना
3. **क्षमा पारमिता**—क्रोध का क्षय
4. **ध्यान पारमिता**—मन की स्थिरता
5. **प्रज्ञा पारमिता**—परमार्थ का ज्ञान
6. **वीर्य पारमिता**—औचित्य के पालन के लिए उत्साह

इससे प्रतीत होता है कि बौद्ध मन में निर्वाण प्राप्ति के लिए बताए गए पारमिता मार्ग में शील को भी विशिष्ट स्थान दिया गया है। बौद्ध ग्रन्थों में निर्दिष्ट पारमिताएँ महाभारत में उल्लिखित मनु द्वारा प्रतिपादित धर्म के दस लक्षणों के समकक्ष हो सकती हैं।

क्रोध

महाभारतकार ने शान्तिपर्व में क्रोध-त्याग पर बल देते हुए कहा है—"क्रोध को जीतने वाले जितेन्द्रिय मनुष्य मन, वचन और कर्म से किसी का अपकार नहीं करते। वे ईर्ष्याशून्य होते हैं, सदा शान्त रहते हैं, वे किसी के शत्रु नहीं होते।"[1] धम्मपद में कहा गया है—क्रोध को त्याग दो, मान छोड़ दो, सब बन्धनों का अतिक्रम कर दो। जो व्यक्ति उत्पन्न क्रोध को भ्रान्त हुए रथ के समान नियन्त्रित कर लेता है, वही वस्तुतः सारथी है। दूसरे व्यक्ति तो केवल लगाम पकड़ने वाले होते हैं। इसलिए क्रोध को अक्रोध से जीते।[2] यहाँ भी महाभारत में क्रोध-त्याग का वर्णन विशेष सन्दर्भ में है। कौरवों द्वारा निष्कासित किए जाने पर अपने भाइयों तथा द्रौपदी को बहुत कष्ट उठाते देखकर भीम के क्रोध का वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है। बौद्ध-धर्म में क्रोध त्याग का कथन सिद्धान्त रूप में ज्ञात होता है।

शान्तिपर्व के मोक्षधर्म प्रकरण में पिता पुत्र का सम्वाद दिया गया है। जिसमें कहा गया है—"विद्या के समान नेत्र, सत्य के समान तपस्या, रागके समान दुःख और

---

1. महाभारतउद्योगपर्व 39-72।
2. धम्मपद, 17 कोधवग्गो—1, 2, 3।

संन्यास के समान दूसरा सुख नहीं है ।[1] इसकी तुलना में महात्मा बुद्ध का कथन है—राग के समान अग्नि नहीं है, द्वेष के समान कलह नहीं है । शरीर धारण करने के समान दुःख नहीं और शान्ति से बढ़कर सुख नहीं ।"[2]

पुरुषार्थ

महाभारत के शान्तिपर्व के राजधर्म प्रकरण में पुरुषार्थ पर बल देते हुए भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर को सीख दी—बृहस्पति ने उद्योग एवं पुरुषार्थ को ही राजधर्म का मूल कहा था । देवताओं ने अपने उद्योग से अमृतलाभ करके असुरों को मारा था । अपने उद्योग से ही इन्द्र तीनों लोकों में विख्यात होकर स्वर्गलोक का राजा हुआ ।[3] वेदव्यास के शब्दों में यह सिद्धान्त पाणिवाद के नाम से विख्यात हुआ है । जगत् में जो कर्म में दक्ष तथा उत्साही है, उनके सब प्रयोजन सिद्ध होते हैं । मानव-जीवन की कृतकार्यता हस्त-संचालन में ही है, हाथ पर हाथ रख कर बैठने में मानव की सिद्धार्थता नहीं है ।[4] शान्तिपर्व में ही एक अन्य स्थल पर युधिष्ठिर को कहा गया कि व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की समुन्नति निरन्तर उद्योगशील रह कर ही सम्भव है और उद्यमहीन राजा एवं राष्ट्र क्षीण हो जाते हैं ।[5]

इसी प्रकार बौद्ध ग्रन्थों में भी पुरुषार्थ की महत्ता स्वीकार की गई है । महात्मा बुद्ध का कथन है कि जब तक व्यक्ति अपने उद्देश्य के लिए पुरुषार्थ नहीं करता तब तक वह सफल नहीं होता एवं उसका जीवन निरर्थक रहता है ।[6]

जहाँ तक पुरुषार्थ का तात्पर्य उद्योग से है, उस विषय में महाभारत एवं बौद्ध मत में समानता प्रतीत होती है। पर जब पुरुषार्थ शब्द का प्रयोग धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के अर्थ में किया जाता है वहाँ दोनों मतों में कुछ भिन्नता प्रतीत होती है । जब कि महाभारत में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों की पुरुषार्थ में गणना है, वहाँ चारों का अलग-अलग महत्त्व है । मोक्ष को वहां मनुष्य-जीवन का अन्तिम ध्येय अवश्य कहा गया

---

1. शान्तिपर्व, 175, 35 (सातवलेकर) 169, श्लोक 33 (भण्डारकर) भण्डारकर में "विद्यासमं बलम्" कहा है, जबकि सातवलेकर में "सत्यसमं तपः" कहा गया है ।
2. धम्मपद, 15 सुखवग्गो 202, 6 ।
3. शान्तिपर्व अ० 58, श्लो० 13 से 17 तक (भण्डारकर)
4. शान्ति० अ० 180-11, 12 श्लो०
5. शान्ति० अ०56, श्लो० 15, अ० 58-14 से 16 श्लो०
6. संयुक्त निकाय 1 विरोचन असुरिन्द सुत्त पृ० 227

है पर यथासमय धर्म आदि अन्य तीनों भी अलग-अलग ध्येय माने गए हैं। पर बौद्ध मत में ध्येय केवल मात्र मोक्ष ही माना गया है। धर्म का पालन आवश्यक तो माना है पर साध्य न कह कर साधन रूप में। तथा अर्थ एवं काम को वहाँ महत्त्व नहीं दिया गया।

(धर्म) पुरुषार्थ में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारों की गणना की गई है। इनमें सर्वप्रथम स्थान धर्म का है। धर्म का वास्तविक अर्थ केवल कोई मन्तव्य अथवा संस्थागत व्यवस्था एवं अनुशासन ही नहीं, अपितु जीवन-प्रणाली एवं आचार धर्म भी है, जो समाज के एक सदस्य के नाते या एक व्यक्ति के रूप में उसके कार्यों तथा गतिविधियों का नियमन करता है। **धारणाद् धर्ममित्याहुः**—किसी भी अच्छे कार्य को करने के लिए जो भी धारणा की जाती है वह हमारा धर्म है। शान्तिपर्व में धर्म का वर्गीकरण वैदिक श्रुतियों तथा स्मृतियों पर आधारित तथा समाज के सभ्य शिष्ट लोगों के व्यवहार पर आश्रित कहा गया है।[1]

धर्म शब्द का प्रयोग बौद्ध ग्रन्थों में दो अर्थों में किया गया है—

(1) आचार के विषय में (2) तत्त्व के रूप में। चार आर्य सत्यों (दुःख दुःख का हेतु, दुःख से मुक्ति और मुक्ति की ओर ले जाने वाला अष्टाङ्गिक मार्ग को जानना धर्म माना गया है। उसमें अन्त में दुःख से मुक्ति के उपाय में आचार से विशेष सम्बन्ध है। धर्म या धम्म शब्द बौद्धों में जहाँ धारण करने के अर्थ में लिया गया है, वहाँ धम्म शब्द तत्त्व के अर्थ में भी लिया गया है—यथा बौद्ध दार्शनिक विचारधारा के अनुसार सर्वास्तिवाद और विज्ञप्तिमात्रवाद में क्रमशः 75 और 100 प्रकार के धर्म कहे गए हैं। सर्वास्तिवाद में संस्कृत और असंस्कृत दो प्रकार के भेद कहे गए हैं। संस्कृत धर्म शरीर आँख, कान, नाक आदि तथा इनके गुण शब्द स्पर्श ,रूप, रस, गन्ध आदि। असंस्कृत धर्म आकाश, जीवन-मृत्यु की प्रक्रिया आदि। विज्ञप्तिमात्रवाद अर्थात् यथार्थ या सत्य। पर धर्म का तत्त्व सम्बन्धी विवेचन हमारे अध्ययन का विषय नहीं है। हमारा सम्बन्ध धर्म से तात्पर्य धारण करना तथा आचरण आदि से है।

महाभारत के शान्तिपर्व में उल्लेख है "व्यक्ति को जैसा व्यवहार अपने लिए अनुचित लगता है वैसा व्यवहार उसे दूसरों के प्रति भी नहीं करना चाहिए। मानवीय कल्याण का आधार है परोपकार और मानवीय दूषणों का मूल है—परपीड़न। उदारता और मानवीयता के तत्त्वों के आधार पर यह धर्म सार्वभौम बन जाता है।"देवल का कथन है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर से कहा "हमें अपने लिए जो व्यवहार अप्रिय है, वह दूसरों

---

1. शान्तिपर्व 109-11 (सातवलेकर) 110-11 (भण्डारकर)

के लिए भी प्रिय नहीं हो सकता।"[1] सबसे समानता का अपने जैसा व्यवहार ही वस्तुतः आत्मदर्शन है। दूसरों के प्रति प्रतिकूल व्यवहार न करने से समाज में सद्भाव और सामंजस्य की वृद्धि होती है। सबके सुख-दुःख हमारे समान हैं, इस तत्त्व को हृदयङ्गम कर सबके साथ प्रतिकूल व्यवहार न करना धर्म का सामाजिक तथा व्यक्तिगत स्वरूप है।[2]

समभाव के विषय में महात्मा बुद्ध ने प्राणिमात्र के प्रति मित्रता और करुणा का व्यवहार करने का उपदेश दिया है। इनकी सीख है—"शत्रुओं से अशत्रुता का व्यवहार करते हुए सुख-पूर्वक जीवित रहें। हम अजातशत्रु हों, हम आतुरों में अनातुर का व्यवहार करते हुए सुखपूर्वक जीवित रहें।"[3] महाभारत में सबके प्रति समानता का व्यवहार रखने के उदाहरण बहुत स्थान पर पाए जाते हैं, पर उसके साथ ही वहाँ "शठं प्रति शाठ्यं समाचरेत्" की भी उक्ति है। बौद्ध वाङ्मय में इस प्रकार का वर्णन नहीं मिलता। इस दृष्टि से दोनों में भिन्नता है।

शान्तिपर्व के मोक्षधर्मप्रकरण में युधिष्ठिर द्वारा धर्म के विषय में जिज्ञासा करने पर भीष्म पितामह ने कहा—"वेद, स्मृति, सदाचार—तीन प्रकार के धर्म के लक्षण हैं। पण्डित लोग प्रयोजन को भी धर्म का चतुर्थ लक्षण कहते हैं। सच्चा धर्म जानने वाले पुरुष अपापविद् होते हैं। आचार ही धर्म की निष्ठा है अतः आचार का अवलम्बन करने से धर्म का स्वरूप जाना जा सकता है।"[4]

मज्झिम निकाय में धर्माचरण के एक प्रसङ्ग का उल्लेख है। कोसल के साला गाँव के कुछ ब्राह्मणों ने महात्मा बुद्ध से धर्म के विषय में जिज्ञासा की। बुद्ध ने बताया "शरीर द्वारा तीन प्रकार का अधर्माचरण, वाणी से चार प्रकार का तथा मन से तीन प्रकार का अधर्माचरण सम्भव है। शरीर द्वारा—प्राणातिपात, अदिन्नादान और काम में मिथ्याचार। वाणी द्वारा—असत्य बोलना, चुगलखोरी, कटुशब्द बोलना तथा प्रलाप करना। मन का अधर्माचरण अभिध्या अर्थात् लोभ, व्यापन्न चित्त या द्वेषपूर्ण मन और मिथ्यादृष्टि। इनके विपरीत आचरण धर्माचरण है। वैसा आचरण करने वाले प्राणी

---

1. शान्ति० अ० 259, श्लो० 20 (सातवलेकर),
   अध्याय 251 श्लोक 19 (भण्डारकर)।
2. गीता अ०6, श्लो०33।
3. धम्मपद 15 सुखवग्गो, 197-198, 1-2।
4. शान्ति० अ० 251, श्लो० 3-4 (भण्डारकर)
   देखिए—धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
   धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्। मनु० अ० 6 श्लो० 6
   अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः—याज्ञवल्क्य० अ० 1 श्लो० 121।

शरीर छोड़ने के बाद स्वर्ग जाते हैं। इस प्रकार धर्म के लक्षण की दृष्टि से भी शान्तिपर्व[1] और बौद्ध धर्म में समानता प्रतीत होती है। इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि दोनों स्थलों में अच्छे आचरण एवं कर्त्तव्य का समावेश धर्म में किया गया है।

शान्तिपर्व के मोक्षधर्म पर्व में तुलाधार-जाजलि सम्वाद के प्रसङ्ग में जाजलि मुनि की जिज्ञासा का शमन करते हुए तुलाधार ने धर्म का विवेचन करते हुए कहा—जीवों से द्रोह न करके अथवा आपत्काल में अल्पद्रोह पूर्ण आचरण करके जो जीविका अर्जित की जाती है वही धर्म है। जो व्यक्ति सदा सबका मित्र है और जो मन, वचन और कर्म से परोपकार में संलग्न रहता है वही असली धर्म जानता है।[2]

धर्म के प्रकरण में धम्मपद में उल्लेख है—"जो मनुष्य न अपने लिए और न दूसरों के लिए पुत्र, धन और राज्य की अभिलाषा करता है, जो अधर्म द्वारा अपनी समृद्धि की अभिलाषा नहीं करता वही शीलवान् और धार्मिक व्यक्ति है।[3] यहाँ सामान्य रूप से दोनों संदर्भों में समानता प्रतीत होती है, पर विवेचना करने पर ज्ञात होता है कि महाभारत में यद्यपि धर्मानुकूल आचरण करने को कहा गया है पर वहाँ यह आचरण समय-सापेक्ष प्रतीत होता है। यथा तुलाधार ने आपत्काल में अल्पद्रोह करने की बात कही। जिस प्रकार महाभारत-युद्ध में द्रोणाचार्य को किसी प्रकार पराजित न किए जाने पर सत्यवादी युधिष्ठिर से "अश्वत्थामा हतः" कहलवाकर उनसे शस्त्र-त्याग करवाना, कर्ण के रथ का पहिया भूमि में फंस जाने पर अर्जुन से उस पर प्रहार करवाना आदि कई उदाहरण मिलते हैं जिनसे महाभारत में आपत्ति काल में अधर्म का आचरण अनुचित नहीं माना गया प्रतीत होता। दूसरी ओर यहां धम्मपद के इस वर्णन में पूर्वार्द्ध में तो स्वाथ या परमार्थ किसी भी स्थिति में पुत्रेषणा, वित्तेषणा या लोकेषणा को हेय माना गया है। उत्तरार्द्ध में धर्म द्वारा समृद्धि की अभिलाषा को अनुचित नहीं कहा गया। साथ ही किसी भी स्थिति में अधर्माचरण को उचित नहीं कहा गया। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महाभारत में धर्म का जो स्वरूप कहा गया है वह जीवन के अधिक निकट तथा प्राप्तिसुलभ है।

अर्थ

अर्थ के महत्व के विषय में शान्तिपर्व में अर्जुन का कथन है—"बिना अर्थ सिद्धि के धर्म और काम अपूर्ण होंगे" यह पृथ्वी कर्मभूमि है, इसलिए इसमें प्रवृत्तिपरक कर्म ही

---

1. मज्झिम निकाय 41 सालेय्य सुत्तन्त 1।5, 1 पृ० 170-173।
2. शान्तिपर्व अ० 254, श्लो० 6,9 (भण्डारकर)
3. धम्मपद,6 पण्डितवग्गो 84, 9।

प्रमुख हैं। धन-प्राप्ति के विषय में उल्लेख है—"कृषि, वाणिज्य, पशुपालन और विविध शिल्पकर्मों के द्वारा अर्थ की उपलब्धि होती है।" इसी प्रसङ्ग में नकुल-सहदेव ने कहा—"सोते-बैठते हुए मनुष्यों को विविध उपायों से अर्थागम की प्राप्ति करनी चाहिए।"[1]

इसकी तुलना में महात्मा बुद्ध ने धन-सम्पत्ति को सत्कर्म के माध्यम से पाना श्रेयस्कर कहा है। उनका कथन है—"उचित काम करने वाला प्रयत्नशील व्यक्ति धन प्राप्त करता है।"[2]

शान्तिपर्व में एक अन्य स्थान पर उल्लेख है—"जैसे सम्पूर्ण नदियाँ पहाड़ों से निकलकर धीरे-धीरे विस्तार पाती हैं, उसी प्रकार धन एवं आर्थिक साधनों से ही सम्पूर्ण कार्य पूर्ण किए जा सकते हैं। धन के बिना मनुष्यों का धर्म, काम एवं प्राण-यात्रा का निर्वाह भी नहीं हो सकता। धनवान् के ही मित्र और बान्धव हैं।"[3]

धम्मपद में धन के विषय में वर्णन है—"जिन्होंने यौवन में धन की प्राप्ति नहीं की है वे लोग मछलियों रहित जलाशय में वृद्ध क्रौंच पक्षी की तरह चिन्तायुक्त होते हैं।[4] महाभारत में जिस प्रकार धन को सब कार्यों का आधार कहा गया है, उसी प्रकार बौद्ध ग्रन्थ में स्पष्ट संकेत है कि मनुष्य को युवावस्था में धन कमाना चाहिए, जिससे वृद्धावस्था में उसे किसी भी प्रकार की न्यूनता का अनुभव न हो।

धन के महत्त्व के विषय में शान्तिपर्व में अन्यत्र उल्लेख है—"धर्म, धैर्य और प्रसन्नता आदि केवल धन से ही सिद्ध हो सकते हैं।" धन से ही कुल-गौरव की अभिवृद्धि होती है। एक निर्धन व्यक्ति अपने धार्मिक कृत्य भी यथाविधि सम्पन्न नहीं कर सकता।[5] इसी प्रकार राजधर्मप्रकरण में कहा गया है—"राजधर्म की दृष्टि से पराया धन लेना भी उचित है। राजा लोग जनता से जो धन प्राप्त करते हैं, उसी धन से राज्य में सब कार्य होते हैं।"[6]

इसकी तुलना में बौद्ध धर्म में सांसारिक धन को सर्वथा उपेक्षणीय समझा गया मालूम होता है। **धम्मपद** में कहा है—"धन मेरा है" यह विचार कर मूर्ख मनुष्य दुःख पाता है। जब आत्मा ही अपना नहीं तो पुत्र कहाँ का और धन कहाँ का?"[7] एक

---

1. शान्तिपर्व अ॰167, श्लो॰ 11-14, 24 (सातवलेकर)
   अ॰ 161, श्लो॰ 11, 14 24 (भण्डारकर)
2. सुत्तनिपात, 1 उरगवग्ग, आलवक सुत्त, श्लो॰ 7, पृ॰ 36
3. शान्ति॰ अ॰ 8, श्लो॰ 16-20, 21 (भण्डारकर)
4. धम्मपद 11 जरावग्गो 155-156 श्लो॰ 10-11
5. शान्तिपर्व अ॰ 8 श्लो॰21-24 (भण्डारकर)
6. शान्तिपर्व अ॰ 8 श्लो॰ 29-31 (भण्डारकर)
7. धम्मपद, 5 बालवग्गो, 62 श्लोक 3।

अन्य स्थान पर सद्गुणों को ही यथार्थ धन कहा गया है—"मनुष्य का आरोग्य ही उसका परम लाभ है, सन्तोष ही उसका वास्तविक धन है।"[1] संयुत्त निकाय में भी लिखा है 'सद्धी च वित्तं पुरिसस्स सेट्ठं' मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ धन श्रद्धा है।[2]

महाभारत में जहाँ स्थान-स्थान पर सांसारिक धन को महत्त्व दिया गया प्रतीत होता है, उसकी तुलना में बौद्ध धर्म में कहीं लौकिक-सम्पत्ति को तुच्छ तथा हेय समझते हुए केवल आवश्यकता पूर्ति के लिए ही उसकी प्राप्ति उचित मानी गई ज्ञात होती है। इसके अतिरिक्त असली धन श्रद्धा, सन्तोष व शान्ति को माना गया है। धन के विषय में महाभारत का दृष्टिकोण जीवन के लिए अधिक उपयोगी एवं यथार्थवादी प्रतीत होता है। बौद्ध धर्म का दृष्टिकोण जीवन के लिए एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत करता है जो सामान्य मनुष्य की कामना से बहुत परे है। यद्यपि शान्तिपर्व तथा धम्मपद दोनों उपदेशात्मक हैं पर दोनों में भिन्नता यह है कि धम्मपद के उपदेशों में मनुष्य-जीवन से उपरत होने की चर्चा है। वह निवृत्ति-परक ग्रन्थ है। जबकि शान्तिपर्व के उपदेश मनुष्य-जीवन के सन्दर्भ में हैं, इसमें केवल निवृत्ति नहीं, अपितु प्रवृत्ति-निवृत्ति का समन्वय है।

काम के प्रसङ्ग में—इच्छाओं और कामनाओं की महत्ता पर बल देते हुए पाण्डु-पुत्र भीम ने कहा—"निष्काम पुरुष अर्थ यां धन की इच्छा नहीं करता। कामहीन मनुष्य धर्म के अभिलाषी नहीं होते, इसलिए कामना ही उत्तम है···कृषक, पशुपालक, शिल्पी सभी व्यक्ति अपनी कामनाओं के अनुसार ही कार्यों में संलग्न रहते हैं। इच्छाओं के ही वशीभूत हुआ मनुष्य समुद्र के गर्भ में प्रवेश कर वहाँ मोती और अन्य विविध पदार्थ प्राप्त करता है।···काम के विविध रूप हैं। सब पदार्थ ही कामनाओं से व्याप्त हैं। धर्म और अर्थ भी काम में ही अवस्थित हो रहे हैं।"[3]

भीम ने ही एक अन्य स्थान पर भी कहा है—"जैसे दही से मक्खन, तिल से तेल मट्ठे से घृत, काष्ठ से फूल और फल तथा पुष्प से मधु श्रेष्ठ है, उसी प्रकार धर्म और अर्थ से काम उत्तम है। इच्छा न होने पर लोग ब्राह्मणों को दान भी नहीं देते। फलतः धर्म-अर्थ-काम के इस त्रिवर्ग में काम ही प्रधान है। जो मनुष्य इन तीनों में से एक का सेवन करता है, वह जघन्य है, धर्म और अर्थ का सेवन करने वाला मनुष्य मध्यम है और तीनों विषयों का सेवन करने वाला पुरुष उत्तम है।"[4]

शान्तिपर्व के एक अन्य स्थल पर वर्णन है—"धर्म अर्थ काम के एक-एक अङ्ग पर

---

1. धम्मपद, 15 सुखवग्गो, गाथा 204, 8।
2. संयुत्त निकाय (मूल) सगाथावर्ग, देवता संयुत्त-3 वित्त सुत्त (1,8,3)।
3. शान्तिपर्व अ० 161 श्लो० 28 से 33 (भण्डारकर)
4. शान्तिपर्व अ० 161 श्लो० 34-38 (भण्डारकर)

बल देने के विषय में अपने छोटे भाइयों द्वारा प्रस्तुत किए जाने पर महाराजा युधिष्ठिर ने कहा—"जो मनुष्य पाप-पुण्य, धर्म-अर्थ और काम में अनुरक्त नहीं हैं, जो दोषरहित है और सोने तथा मिट्टी के ढेले में एक जैसी समान वृत्ति रखते हैं वे सुख-दुःख और अर्थ-सिद्धि से छूट जाते हैं।"[1]

महाभारत में जहाँ काम पर बल दिया गया है वहाँ विभिन्न स्थलों पर इससे विपरीत विचार भी उपलब्ध हैं। जैसे वहाँ तृष्णा को सबसे बड़ा रोग कहा है—"मूर्ख मनुष्य उसे कभी नहीं छोड़ सकते, यह तृष्णा मृत्यु के समान भीषण है, इस तृष्णा का जो त्याग कर देते हैं वे वास्तव में सुखी होते हैं।[2]

शान्तिपर्व में ही तृष्णा को त्याग देने से उपलब्ध होने वाले सुख का महत्त्व बताते हुए वर्णन किया गया है—

> यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
> तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्।। शा० 177,51।

इस प्रकार जहाँ महाभारत में कामना की पुष्टि की गई है वहाँ कामना के त्याग की बात भी कही गई है। कामनाओं के पूर्ण होने के सुख के साथ-साथ कामनाओं के त्याग कर देने से जो परम सुख मिलता हैं—इच्छाओं की प्राप्ति का सुख उसके 16वें अंश के बराबर भी नहीं है।

इसकी तुलना में बौद्ध धर्म में तृष्णा के विषय में वर्णन है—"आसक्ति, कामना एवं तृष्णा आदि के त्याग से ही मनुष्य जीवन्मुक्त हो सकता है।तृष्णा से शोक होता है, तृष्णा से ही भय होता है, जो व्यक्ति तृष्णा का त्याग कर देता है उसे न शोक होता है न भय।"[3] धम्मपद में एक स्थान पर उल्लेख है—"कामनाएँ क्षणिक सुख वाली तथा परिणाम में दुःख-देने वाली होती हैं। इस कटु तथ्य को जान कर पण्डित दिव्य कामनाओं में आसक्त नहीं होता। वह पूरी तरह जागरूक और प्रबुद्ध होकर तृष्णाओं के क्षय में संलग्न रहता है।[4]

तृष्णा के ही सम्बन्ध में महात्मा बुद्ध ने एक अन्य स्थान पर कहा है—"समस्त रोगों की जड़ है ग्रहण करने की इच्छा जिघृक्षा-तृष्णा। सारे दुःखों का मूल है संस्कार। मनुष्य तृष्णाओं और संस्कार के नाश से ही निर्वाण प्राप्त कर सकता है। बौद्ध दर्शन में तृष्णा के बुझ जाने को उसके समाप्त हो जाने को ही निर्वाण कहा गया है।[5]

---

1. शान्तिपर्व अ० 161 श्लो० 42 (भण्डारकर)
2. शान्तिपर्व अ० 276 श्लो० 11,12 (सातवलेकर सं०) अ० 268, श्लो० 11,12 (भण्डारकर सं०) मनुस्मृति—न जातु कामना मुपभोगेन शाम्यति 2-94।
3. धम्मपद, 16 पियवग्गो, 216-8 पृ० 134
4. धम्मपद, 14 बुद्धवग्गो 187,9 पृ० 118।
5. धम्मपद, 15 सुखवग्गो, 204, 8।

बौद्ध धर्म में हीनयान शाखा वाले मानते हैं कि शुभ-अशुभ दोनों तरह की वासनाएँ एवं कामनाएँ हेय या त्याज्य हैं, वे केवल निवृत्ति पर जोर देते हैं। इसी धर्म की दूसरी महायान शाखा वाले अशुभ वासनाएँ-कामनाएँ छोड़कर केवल शुभ वासनाओं या कामनाओं के विकास पर बल देते हैं। वे मानते हैं कि अशुभ वासनाओं का क्षय होने पर आदमी शुद्ध-बुद्ध बन जाता है। महायान शाखा वाले बुद्धत्व प्राप्त होने पर भी उस समय तक निर्वाण प्राप्त नहीं करना चाहते, जब तक दूसरे लोग दुःख भोग रहे हैं। दूसरे व्यक्तियों द्वारा दुःख भोगे जाने तक वे अपने लिए सुखों का उपभोग त्याज्य समझते हैं। इस प्रकार हीनयान वालों ने जहाँ कष्ट-निवृत्ति को ही निर्वाण कहा है वहाँ कामना को सर्वथा हेय कह दिया है। महायान वालों ने परम सुख की कामना को उचित माना है, पर उस परम सुख का उपभोग तब तक उचित नहीं माना, जब तक अन्य सब दुःख से निवृत्त न हों। सामान्यतया देखने में यही आता है कि संसार के समस्त मनुष्यों का दुःख से निवृत्त होना सम्भव नहीं है अतः उस परम सुख की कामना भी व्यर्थ है। परिणामतः बौद्ध मत में कामना को कोई स्थान नहीं है। दूसरी ओर महाभारत में कामना को वही स्थान दिया गया है जितना स्वस्थ जीवन में प्राप्त है और होना चाहिए।

महात्मा बुद्ध की सीख है—**मा कामरतिसन्थवं** कामनाओं एवं वासनाओं से परिचय मत बढ़ाओ। काम भोग रूपी फूलों का चयन करने वाले आसक्त मन वाले और काम वासनाओं में अतृप्त रहने वाले मनुष्य को मृत्यु अपने वश में कर लेती है।[1] न कहापणवस्सेन तित्ति कामेसु विज्जति—कार्षापण एवं सोने की मुद्राओं की वर्षा से भी कामनाओं की तृप्ति नहीं होती, कामनाएँ थोड़े स्वाद वाली तथा दु.खपूर्ण होती हैं। जहाँ महात्मा बुद्ध ने कामनाओं के त्याग पर बल दिया है, वहाँ दिव्य कामनाओं का भी वर्णन किया है—जिसका अर्थ है तृष्णा के क्षय की कामना। उन्हीं के विषय में यहाँ संकेत है कि दिव्य कामनाओं से आसक्ति नहीं होती, पूर्णरूपेण प्रबुद्ध हुआ श्रावक तृष्णा के क्षय में संलग्न रहता है।[2] महात्मा बुद्ध ने कहा—**कामेसु च अप्पटिवद्धचित्तो उर्द्धसोतो नि वुच्चति** (पियवग्गो)। कामनाओं में जिसका चित्त फंसान हीं है वह ऊर्ध्वस्रोता कहा जाता है।''

महात्मा बुद्ध ने प्रवृत्ति मार्ग की अपेक्षा निवृत्ति मार्ग का अवलम्बन उचित माना है। उन्होंने कहा—''धैर्यवान् मनुष्य कठिनाई से छूटने योग्य पतन के मार्ग को दृढ़ बन्धन मानते हैं, कामनाओं से शून्य निःस्पृह लोग इन बन्धनों को भी काट कर काम-सुख छोड़कर संसार से विरक्त हो जाते हैं। महात्मा दुद्ध की दृष्टि में सच्चा विद्वान् ब्राह्मण वह व्यक्ति होता है जो कमल-पत्र पर जल के समान, आरे की नोक पर सरसों के दाने के समान कामनाओं एवं वासनाओं में लिप्त नहीं होता।''[3]

---

1. धम्मपद, 4 पुप्फवग्गो, 48,5।
2. धम्मपद, 14 बुद्धणग्गो, 186-187, 8-9।
3. धम्मपद, 26 ब्राह्मवग्गो, 401-2, 19,20।

इससे ज्ञात होता है कि बौद्ध विचारधारा में कामनाओं के लिए स्थान नहीं हैं। इस दर्शन में हर्ष, आनन्द व उल्लास को स्थान नहीं है। प्रीति, आसक्ति, कामना और तृष्णा सभी दुखों से परिपूर्ण हैं। इसकी तुलना में महाभारत में धर्मपूर्वक अर्थ और काम की उपलब्धि और उनके उपभोग को मानवीय पुरुषार्थ की संज्ञा दी गई है। वहाँ प्रवृत्ति के साथ-साथ निवृत्ति का उपदेश होने से दोनों का समन्वय प्रतीत होता है।

मोक्ष—महाभारत में जिस प्रकार धर्म, अर्थ, काम तीन पुरुषार्थों का वर्णन किया गया है उसी प्रकार चौथे अर्थात् मोक्ष का भी विवेचन किया गया है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत में मोक्ष की अपेक्षा धर्म-पालन, अर्थ-प्राप्ति एवं काम-तृप्ति को अधिक महत्त्व दिया गया है। तथा मोक्ष या अपवर्ग का स्थान स्वर्ग को प्रदान किया गया है।

यदि मोक्ष के शाब्दिक अर्थ पर ध्यान दें तो कहा जा सकता है कि महाभारत एवं बौद्ध मत दोनों में ही मोक्ष का स्वरूप निषेधात्मक है। क्योंकि मोक्ष का अर्थ है मुक्ति या छुटकारा और निर्वाण, जिसका प्रयोग बौद्ध करते हैं, का अर्थ है निवृत्त हो जाना। मोक्ष के तात्विक अर्थ की दृष्टि से अन्ततोगत्वा महाभारत में मोक्ष का स्वरूप विधेयात्मक है, क्योंकि उसमें आत्मवाद का दृष्टिकोण है तथा मोक्ष का सम्बन्ध आत्मा से है। जब कि बौद्ध मत में अनात्मवाद का दृष्टिकोण है अतः वहाँ मोक्ष का स्वरूप निषेधात्मक है।

शान्तिपर्व के मोक्ष धर्म प्रकरण में[1] गुरु-शिष्य-सम्वाद द्वारा मोक्ष का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए उल्लेख किया गया है कि जीवात्मा का परमात्मा से पूर्ण तादात्म्य स्थापित करना ही मोक्ष है। इसी उपपर्व में पञ्चशिख का कथन है कि आत्मा को छोड़ कर शेष सब नाशवान् है[2] और मोक्ष का अर्थ है उस अमरत्व की प्राप्ति। अध्याय 239 में व्यास ने शुक को आत्मज्ञान का सिद्धान्त बताया। वहाँ वर्णन किया गया है कि सच्चे ज्ञान की प्राप्ति के बाद मन और इन्द्रियाँ अन्तरात्मा के ध्यान में लीन हो जाती हैं फलतः परमात्मा का साक्षात्कार होता है और इस प्रकार का साक्षात्कार ही मुक्ति है।[3]

इसी उपपर्व में श्री वेदव्यास ने ब्रह्म-प्राप्ति का वर्णन किया है उसका सम्बन्ध

---

1. शान्ति० मोक्षधर्म अध्याय 204-206 (सातवलेकर)
   अ० 194-196 (भण्डारकर)
2. शान्ति० मोक्षधर्म अध्याय 218, श्लो० 30,31 (सातवलेकर),
   अ० 211, श्लोक 29,30 (भण्डारकर)।
3. शान्ति० मोक्ष धर्म अ० 239, श्लो० 30-34 (सातवलेकर)
   अ० 231,30-34 (भण्डारकर)

भी मोक्ष की उपलब्धि से ही है।[1] एक अन्य स्थान पर योगियों द्वारा रजोगुण के प्रभाव से मुक्त होकर अन्तरात्मा के दर्शन का कथन है, वहाँ रजोगुण और तमोगुण से अलग होकर सत्वगुण के प्रभाव में पहुँचना ही मोक्ष की अवस्था कही जा सकती है।

इस प्रकार महाभारत में मोक्ष के प्रकरण में आत्मा परमात्मा के एकत्व, आत्मा के अजर-अमर स्वरूप का वर्णन तथा परमात्मा का साक्षात्कार आदि विषयों का चिन्तन किया गया है।

बौद्ध मत में आत्मा की सत्ता को न मानने से अनात्मवाद की ही चर्चा है। वहाँ **निब्बानं परमं सुखं** का उल्लेख तो है, पर वह परम सुख क्या है इस विषय में महात्मा बुद्ध अथवा उनके अनुयायियों ने मोक्ष की कोई परिभाषा नहीं कही है। दुःखों से निवृत्ति को ही मोक्ष माना है।

मोक्ष के प्रकरण में जहाँ आश्रमों के सम्बन्ध की चर्चा आती है, वहाँ अधिकतर संन्यास के साथ मोक्ष का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। शान्तिपर्व के सनत्सुजातीय आख्यान में संसार का त्याग कर वन में निवास कर भगवान् की आराधना करने का निर्देश है। इस प्रकार जहाँ मोक्ष-प्राप्ति के लिए एक स्थान पर वनवास का उल्लेख है, वहाँ इसी पर्व में अन्य स्थल पर घर में रहते हुए भी मुक्त होने की बात कही गई है। धर्मपूर्वक सब आश्रमों के कर्त्तव्यों का पालन करते हुए भी मोक्ष-प्राप्ति कही गई है। फलतः ब्रह्म-चारी अथवा गृहस्थी भी मुक्त हो सकता है। इस प्रसङ्ग में शान्तिपर्व में उल्लेख है—**कस्यैषा वाग्मवेत्सत्या नास्ति मोक्षो गृहादिति**[2] यह किसकी वाणी सत्य सिद्ध हो रही है कि घर में रह कर मोक्ष की उपलब्धि सम्भव नहीं है। इस पर्व में धर्म द्वारा इस लोक और परलोक में कल्याण की प्राप्ति सम्भव कही गई है। धर्म वह है, जो सत्य है, सबका कल्याण ही धर्म का आधार कहा गया है। धन-सम्पत्ति का अपहरण किया जा सकता है पर धर्म का नहीं। धर्माचरण से किसी भी आश्रम में मोक्ष-प्राप्ति सम्भव है।

दूसरी ओर बौद्ध मत में मोक्ष का सम्बन्ध केवल भिक्षुत्व के साथ है। महात्मा बुद्ध ने एक रोगी, एक वृद्ध और एक मृतक को देखकर संसार को जन्म-जरा-व्याधि एवं दुखों से परिपूर्ण समझ कर जगत् के समस्त वैभव एवं आनन्द को सदा के लिए छोड़ने का संकल्प कर एक उदाहरण प्रस्तुत किया। इस प्रकार बौद्ध धर्म में संसार त्याग कर ही मोक्ष की साधना का विवेचन किया गया प्रतीत होता है। पहाभारत के अनुसार मोक्ष-प्राप्ति के लिए संन्यास जितना सुनिश्चित एवं विश्वस्त मार्ग है, उतना ही धर्म एवं

---

1. शान्ति० मोक्षधर्भ अ० 242, श्लो० 13-15 (सातवलेकर),
   अ० 234, श्लोक 13,15 (भण्डारकर)
2. शान्तिपर्व अ० 269, श्लो० 10 (सातवलेकर),
   अ० 261, श्लोक 9 (भण्डारकर)

न्याय के मार्ग पर चलते हुए निष्काम बुद्धि से किए हुए कर्म से भी मोक्ष प्राप्ति सम्भव है।

मोक्ष के ही प्रकरण में शान्तिपर्व में योग की भी विशद चर्चा की गई है। इस पर्व के 316 अध्याय में इन्द्रियों और पंच प्राणों को योग के मुख्य साधन बताते हुए चित्त की वृत्तियों के निरोध द्वारा समाधिस्थ होकर मोक्ष प्राप्ति करने की बात कही गई है। इसी प्रसङ्ग में योग से प्राप्त होने वाली विभिन्न सिद्धियों का वर्णन है। पर वहाँ कहा गया है कि सिद्धियों में ही आवद्ध रहने से योगी को मुक्ति नहीं मिलेगी। जब योगी विविध प्रकार की सिद्धियों को लाँधता हुआ अपने लक्ष्य की ओर उन्मुख होता है तभी वह मुक्त हो सकता है।

योगैश्वर्यमतिक्रान्मो यो निष्क्रामति मुच्यते[1]

इसी संदर्भ में यम-नियमों का भी उल्लेख किया गया है। यम में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की गणना की गई है। इन सब में हिंसा, असत्य आदि के त्याग का निर्देश होने से ये निषेधात्मक हैं। तथा नियमों में शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-चिन्तन का विधान है। ये सब विधेयात्मक है। मोक्ष-प्राप्ति के साधन रूप योग के प्रथम सोपान के रूप में यमनियम दोनों का ही महत्त्व है।

दूसरी ओर विनय पिटक में भिक्षु संघ के लिए—अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, सत्य, धर्म में श्रद्धा, मध्याह्नोत्तर भोजन का निषेध, विलास से विरक्ति, सुगन्धित द्रव्यों का निषेध, सुखप्रद शय्या, तथा आसन का परित्याग और सुवर्ण आदि मूल्यवान् वस्तुओं को अस्वीकार करना आदि—जो दस नियम गिनाए गए हैं, उनमें से अधिकांश यम ही प्रतीत होते हैं। इस प्रकार निषेधात्मकता पर बल साधन पक्ष में भी विद्यमान है।

बौद्ध मत में मोक्ष के साधन रूप-सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक्समाधि—के अष्टाङ्गिक मार्ग की विस्तृत चर्चा की जाती है और उसकी ओर प्रस्थान के सोपान के रूप में दान, शील, शान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा—6 पारमिताओं का वर्णन किया जाता है। उसके आधार पर कहा जा सकता है कि अष्टाङ्गिक मार्ग का अन्तिम चरण सम्यक् समाधि मोक्ष की वह अवस्था है, जब श्रावक सब प्रकार की कामनाओं, दुःख, ईर्ष्या, द्वेष आदि से निवृत्त हो जाता है तथा पारमिताओं में अन्तिम प्रज्ञा पारमिता मोक्ष की वह अवस्था है, जब साधक में आतम-दृष्टि शेष नहीं रह जाती। फलतः इन दोनों दृष्टियों से भी बौद्ध मत में मोक्ष का स्वरूप निषेधात्मक ही कहा जाएगा।

शरण—शरणागति के सिद्धान्त का बौद्ध धर्म में विशेष महत्त्व दिखाई देता है।

---

1. शान्ति० अ० 236, श्लो० 40 (सातवलेकर),
   अ० 228, श्लोक 037 (भण्डारकर)

शरण शब्द की व्युत्पत्ति है **शृणाति दुःखमनेनेति**।[1] शरण शब्द का अर्थ **आश्रय** या आश्रय योग्य व्यक्ति या तत्त्व के अर्थ में लिया गया है। गृह या निवास स्थान के अर्थ में शरण शब्द का प्रयोग महाभारत के आदि पर्व में दिखाई देता है। पालि साहित्य में भी गृह अर्थ में इस का प्रयोग उपलब्ध है।[2] इतने पर भी शरण शब्द-बुद्ध, धर्म और संघ आदि तीन तत्त्वों के आश्रय के लिए रूढ़ हो गया है।'' **बुद्धं सरणं गच्छामि** (मैं बुद्ध की शरण जाता हूँ), **संघं सरणं गच्छामि** (मैं संघ की शरण जाता हूं), **धम्मं सरणं गच्छामि** (मैं धर्म की शरण जाता हूँ) यह बौद्ध मत को स्वीकार करने का मूलमन्त्र है।

सामान्य जन-प्रयोग में शरण का अर्थ है आश्रय, एक ऐसा स्थल जहाँ व्यक्ति सभी प्रकार के भय से त्राण अर्थात् संरक्षण प्राप्त करता है। धम्मपद में कहा गया है कि 'भय से त्रस्त मनुष्य पर्वतों, वनों, उद्यानों एवं चैत्यों की शरण लेते हैं, परन्तु यह आश्रय निरापद एवं यथार्थ नहीं है। जो व्यक्ति बुद्ध, संघ और धर्म की शरण में जाता है और सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर चारों सत्यों को जान लेता है वही सच्ची शरण प्राप्त करता है।[3]

बौद्ध वाङ्मय की दृष्टि से **शरणागमन** का अर्थ भगवान् बुद्ध और श्रावक के मध्य तादात्म्य स्थापित करना है। यदि एक व्यक्ति बौद्ध धर्म की त्रयी बुद्ध, संघ और धर्म में आश्रय ग्रहण करता है और वह संघ का सदस्य बन जाता है तब उसे भिक्खु कहा जाता है। यदि ऐसा व्यक्ति गृहस्थ बना रहता है, तब उसे उपासक कहा जाता हैं। शरणागमन दो प्रकार का होता है—लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक शरण का अभिप्राय होता है बौद्धत्रयी-बुद्ध, संघ और धर्म की शरण ग्रहण करना, और **लोकोत्तर शरण** का लक्ष्य निर्वाण या निब्बान की स्थिति प्राप्त करना है।

बुद्ध घोष ने चार प्रकार के शरणागमन का उल्लेख किया है—(1) आत्म-समर्पण (**अत्तसन्निय्यातनेन**), (2) लक्ष्य में केन्द्रित मन (**तप्परायन ताय**), (3) शिष्य के सम्बन्ध का पालन (**सिस्सभावपगमनेन**), (4) विनम्रता (**पणिपातेन**)। पहली स्थिति में त्रिरत्न के प्रति भावनापूर्वक समर्पण सम्मिलित है, दूसरी स्थिति में त्रिरत्न को अन्तिम लक्ष्य या आदर्श स्वीकार करना, तीसरी स्थिति में त्रिरत्न के सम्बन्ध में भिक्षु या उपासक की अवस्था को विवेकपूर्वक स्वीकार करना और चौथी स्थिति में त्रिरत्न को नमन, सम्मान एवं प्रतिष्ठा देना। चौथी स्थिति का अनुसरण करते हुए श्रावक को अनुभव करना चाहिए कि पूजा का लक्ष्य सर्वोच्च है। (अग्गदक्खिनेय)[4] इस प्रकार बौद्ध धर्म में शरण के विषय में विस्तार से विवेचन उपलब्ध होता है।

---

1. ततोऽम्बिकायां प्रथमं नियुक्तः सत्यवागृषिः ।
   दीप्यमानेषु दीपेषु शरणं प्रविवेश ह ।। म० भा० आदि प० । 105-4 ।
2. यथा शरणादितं वारिना परिनिब्बये । सुत्त निपात 3।190 ।
3. धम्मपद, 14 बुद्धवग्गो, 188, 190 । 10,12 ।
4. सुमङ्गल-विलासिनी, 1, पृष्ठ 231 ।

महाभारत के शान्तिपर्व में शरण के विषय में स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु महाभारत के एक अन्य स्थल भगवद् गीता में भक्ति या शरण के विषय में भगवान् श्रीकृष्ण के मुख से कहलाया गया है —

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच।

सब कुछ त्याग कर भगवान् की ही शरण जाने में भक्ति का परम तत्त्व गीता में दृष्टिगोचर होता है। बुद्ध के उपदेशानुसार बुद्ध से संघ फिर धर्म की शरण जाने की बात से प्रतीत होता है कि बुद्ध ने मूर्त्त से अमूर्त्त की ओर जाने का उपदेश दिया है। जबकि गीता में धर्मों को छोड़कर 'मेरी' शरण आने की प्रेरणा देकर अमूर्त्त से मूर्त्त की ओर आने का उपदेश दिया गया ज्ञात होता है।

गीता में कहा गया है "इस समस्त संसार में वह परम तत्त्व एवं भगवद् शक्ति ही ओत-प्रोत है, जो समस्त प्राणी जगत् की प्रवृत्तियों का मूलस्रोत है। मानव उसी परम तत्त्व की अर्चना कर सिद्धि प्राप्त कर सकता है। कहा जा सकता है कि मनुष्य जीवन की सफलता का रहस्य ईश्वराराधना अथवा भक्ति में ही है।[1]

श्रद्धा—महाभारत में भक्ति व श्रद्धा समानान्तर गुण माने गए हैं। इसमें बड़ों के प्रति आदर का भाव एवं ईश्वर के प्रति पूजा का भाव आदि शामिल हैं। बौद्ध धर्म के ग्रन्थ विशुद्धिमग्ग में श्रद्धा का तात्पर्य विश्वास एवं परिशुद्धि लिया गया है। साथ ही वहां श्रद्धा को महत्त्व देते हुए उसे कर्मठता में हाथी के समान, दान देने में धन के समान तथा शुभ कार्यों के फलीभूत होने में बीज स्थानीय कहा गया है।[2]

शान्ति पर्व में उल्लेख है—"किसी उदार व्यक्ति का भी श्रद्धायुक्त अनाज ही खाने के योग्य होता है, अश्रद्धा से दिया हुआ अनाज कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए। अश्रद्धा पाप के तुल्य है। श्रद्धा युक्त निवृत्ति मार्ग के अवलम्बन से पवित्रता मिलती है। सात्त्विकी, राजसी और तामसी जिस प्रकार की भी श्रद्धा की जाएगी, व्यक्ति उसी प्रकार की स्थिति प्राप्त कर लेगा।"[3]

शान्तिपर्व के ही एक अन्य स्थल पर भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर को कहा— "ईश्वर सम्बन्धी श्रद्धा सूर्य के समान उज्ज्वल और सात्त्विक कही जाती है। यह श्रद्धा

---

1. गीता अ० 18, श्लो० 46।
2. विशुद्धि मग्ग 2, परिच्छेद 14, देखिए भिक्षुधर्मरक्षित द्वारा किए गए हिन्दी अनुवाद का पृ० 79।
3. शान्ति पर्व अ० 256, श्लो० 10-14, (भण्डारकर), अध्याय 165, श्लोक 13-18 (सातवलेकर)।

पालन करती है इसी कारण सावित्री कही जाती है।"[1] इसी स्थल पर यह संकेत भी किया गया है कि श्रद्धा हीन मनुष्य का विनाश सरल हो जाता है।

धम्मपद में कहा गया है—"श्रद्धा और शील से सम्पन्न व्यक्ति जिस-जिस देश में जाता है, उस उस देश में उसका सम्मान किया जाता है।"[2]

महात्मा बुद्ध ने पुद्गल (जीवों) के जो 7 भेद बताए हैं उनमें से दो श्रद्धा विमुक्त और श्रद्धानुसारी हैं।[3]

उक्त ऊहापोह से ज्ञात होता है कि महाभारत और बौद्ध धर्म दोनों में ही श्रद्धा का लोक-व्यवहार तथा कर्म के साथ सम्बन्ध जोड़ा गया है। दोनों में श्रद्धा के विषय में कोई मौलिक अन्तर प्रतीत नहीं होता।

सन्तोष—सन्तोष शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ प्रायः इस प्रकार किया जाता है—सं+तोष—तुष्टि, शान्ति, तृप्ति, प्रीति और सुख। यदि मन का सन्तोष ही सुख और शान्ति है तो उसके सम्बन्ध में महाभारत और बौद्ध वाङ्मय में कुछ स्थलों की तुलना की जा सकती है। शान्तिपर्व में उल्लेख है कि देवराज इन्द्र द्वारा जिज्ञासा प्रकट किए जाने पर गुरु बृहस्पति ने बताया था कि "मन का सन्तोष ही उत्तम स्वर्ग लोक है, सन्तोष ही परम सुख है, इससे बढ़कर कोई भी वस्तु श्रेष्ठ नहीं है।[4]"

धम्मपद में जहाँ आरोग्य को परम लाभ तथा निर्वाण को परम सुख कहा गया है वहाँ मन के सन्तोष को परम धन बताया गया है।[5]

महाभारत युद्ध में विजय पाकर शतसहस्र पुत्रों-पौत्रों मित्रों एवं निकट सम्बन्धियों की मृत्यु के साथ कर्ण (जिनके अग्रज भाई होने की सूचना उन्हें मिली थी) की भी मृत्यु के समाचार से महाराजा युधिष्ठिर शोक-सन्तप्त हो गए। उस समय सब भाइयों ने उन्हें **वीरभोग्या वसुन्धरा** का तथ्य बताया परन्तु उस युक्ति से युधिष्ठिर को सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने अपने भाइयों को कहा—"सन्तोष से ही पुरुषों को स्वर्ग और परम सुख प्राप्त होते हैं। सन्तोष से बढ़कर दूसरी कोई भी वस्तु श्रेष्ठ नहीं है। क्रोध-हर्ष से रहित योगियों के निमित्त मन का सन्तोष ही परम प्रतिष्ठा और उत्तम सिद्धिस्वरूप है।"[6]

इस कथानक के अनुसार जिस वस्तुस्थिति से युधिष्ठिर के चारों भाइयों को सन्तोष हुआ (विजय के कारण), उससे युधिष्ठिर को नहीं हुआ। इससे प्रतीत होता है

---

1. शान्तिपर्व अ० 264, श्लोक 6-8 (सातवलेकर)
2. धम्मपद, 21 पकिण्णकवग्गो, 303-14।
3. दीघनिकाय, 28 सम्पसादनिय सुत्त 3-5, 1-7 (मूल)।
4. शान्ति० अ० 21, श्लोक 2 (भण्डारकर, सातवलेकर)
5. धम्मपद, 15 सुखवग्गो, 204।४ पृ० 129।
6. शान्तिपर्व अ० 26, श्लोक 11, 12 (सातवलेकर)

कि महाभारत में सन्तोष की परिभाषा सर्वत्र सबके लिए एक-सी नहीं कही गई है। सन्तोष के विषय में भिन्नता भी हो सकती है। वहाँ जीवन की विषमताओं में सामञ्जस्य दीखता है। बौद्ध धर्म में सन्तोष की परिभाषा सबके लिए उपदेश रूप में एक ही कही गई है।

यदि धम्मपद में उपदेश है कि "मनुष्य को शत्रुओं से अशत्रुता, आतुरों से अनातुर और उत्सुकों में अनुत्सुक होकर अकिञ्चन वृत्ति से सन्तोषपूर्वक रहना चाहिए"[1] तो महाभारत के महाराजा जनक उस उपदेश का पालन करते हुए लगते हैं जबकि वे दावा करते हैं कि "मैं अकिञ्चन वृत्ति से सन्तोषपूर्वक रहता हूँ। यदि राजधानी मिथिला भी जलने लगे तो भी मेरा कुछ जलने वाला नहीं है।"[2]

महाभारत एवं बौद्ध धर्म दोनों में सांसारिक विषयों के प्रति तटस्थता एवं त्याग के साथ सन्तोष का सम्बन्ध जोड़ा गया है।

इसी प्रकार सन्तोष का विशेष सम्बन्ध यदि बौद्ध परम्परा में भिक्षुत्व के साथ जोड़ा जाता है तो महाभारत में सन्तोष को ब्राह्मण का विशेष गुण कहा गया है। उदाहरणार्थ युद्ध में विजयी होने पर युधिष्ठिर द्वारा राज्य को स्वीकार न कर राज्य के त्याग का अनुरोध करने पर द्रौपदी ने कहा—"आपके विचार क्षत्रियों जैसे नहीं हैं, आपके विचारों से मालूम पड़ता है कि आप ब्राह्मण हैं। समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री भाव, दान लेना और देना, अध्ययन, तप और सन्तोष का जीवन व्यतीत करना ब्राह्मण का कर्त्तव्य है। यही सब कुछ आपकी वृत्ति बन गई है।"[3]

सत्य

महाभारतकार ने शान्तिपर्व में आचार के तेरह रूपों की गणना करते हुए कहा है कि समता, इन्द्रिय-निग्रह, मत्सरहीनता, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा, अनसूया, त्याग, ध्यान, धृति, आर्यत्व, दया और अहिंसा—इन सभी के मध्य अव्यय, अविकारी एवं नित्य तत्त्व का नाम सत्य है।[4] शान्तिपर्व में एक स्थान पर ब्रह्म, तप एवं यज्ञ को सत्य कहा गया[5] तो कई स्थानों पर धर्म को ही सत्य का नाम दिया गया है, जैसे—

1. धम्मपद, 15 सुखवग्गो, 197-199, 1-3।
2. शान्ति० 276-4 (सातवलेकर), अ० 268, श्लोक 4 (भण्डारकर)
3. शान्ति० अ० 14, श्लोक 15 (भण्डारकर)
4. शान्ति०, अ० 156, श्लोक 8-11 (भण्डारकर)
5. शान्ति०, अ० 156, श्लोक 5 (भण्डारकर)

यत् सत्यं स धर्मो यो धर्मः स प्रकाशो यः प्रकाशस्तत्सुखम् ।[1]

इसी पर्व में एक स्थान पर सत्य का लक्षण "स्वधर्मानुष्ठान रूपी तपस्या ही सत्य है"[2] यह दिया गया है।

इसके विपरीत बौद्ध मत में जहाँ तक स्वधर्म का प्रश्न है, वहाँ **स्व** का कोई अस्तित्व नहीं, वहाँ स्व-आत्मा की कोई सत्ता नहीं, स्वभाव का कोई अस्तित्व नहीं। अतः स्व धर्म का कोई प्रश्न नहीं उठता। इस दृष्टि से महाभारत और बौद्ध धर्म में सत्य के लक्षण के विषय में भेद कहा जा सकता है।

बौद्ध वाङ्मय में यद्यपि सत्य का स्पष्ट रूप से कोई लक्षण उपलब्ध नहीं होता, पर वहाँ सत्य के दो रूप कहे गए हैं—परमार्थ सत्य और व्यवहार या लोकसंवृति सत्य। संवृति सत्य का लक्षण किया गया है—

संव्रियते आव्रियते यथाभूतपरिज्ञानं
स्वभाववरणादावृत्तप्रकाशनाच्चानयेति ।[3]

अविद्या से स्वभाव का आवरण होता है और सांवृतिक सत्य का उद्भावन होता है। अविद्या से ही असत् का सत् में आरोप होता है और वह असत् सत् के समान दिखाई देता है। जो दृश्यमान है वह सत् नहीं है क्योंकि उत्तर काल में उसकी स्थिति नहीं है, किन्तु हम विकल्पित पदार्थों को सत्य ग्रहण करते हैं यही संवृत्ति है। व्यवहार दशा में तो यह संवृति सत्य ही रहेगी, अन्यथा इसको संवृति सत्य क्यों कहा जाता। परमार्थ सत्य की प्राप्ति होने पर संवृति सत्य मृषा सिद्ध हो जाता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि मृषादर्शी का विषय संवृति सत्य कहलाता है। सम्यक् दर्शी का जो विषय है वह तत्त्व ही परमार्थ सत्य कहलाता है।

इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यद्यपि बौद्ध मत में सत्य के दो रूप माने गए, पर संवृति सत्य को व्यवहार तक ही सीमित मानकर अन्ततोगत्वा परमार्थ सत्य की प्राप्ति होने पर उसको मृषा माना गया। इस प्रकार यथार्थ सत्य एक ही माना गया—"एक हि सच्चं न दुतियमत्थि।"

---

1. शान्ति०, अ० 183, श्लोक 5 (भण्डारकर)
   तुलना—बृहदारण्यक 1,4,14-सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदति, धर्मं वदन्तं सत्यं वदति—सत्य बोलने वाले को कहते हैं वह धर्म बोलता है और धर्म बोलने वाले को कहते हैं कि वह सत्य बोलता है। अतः सत्य और धर्म एक हैं।
2. शान्ति० अ० 183 श्लोक 1 (भण्डारकर)।
3. बोधिचर्यावतार

बौद्ध मत में सत्य के परमार्थ और व्यवहार या संवृति दो भेद करके अन्त में संवृति का सम्बन्ध अविद्या से बताने के कारण इसका निषेध करके परमार्थ सत्य को ही माना गया है। इस तरह सत्य का सम्बन्ध परमार्थ या मोक्ष से किया गया पर लौकिक व्यवहार में सत्य नहीं माना गया। इस दृष्टि से वहाँ सत्य का रूप संकुचित कहा जा सकता है। यहाँ अद्वैत वेदान्त के साथ बौद्ध मत की समानता प्रतीत होती है, जिसमें जगन्मिथ्या का प्रतिपादन करके केवल ब्रह्म को ही परमतत्त्व स्वीकार किया गया है।

इसकी तुलना में महाभारत में सत्य में इहलोक व परलोक सबका समावेश है। महाभारतकार ने लौकिक व्यवहार में सत्य मानने से इन्कार नहीं किया है, अतः सत्य सम्बन्धी महाभारत का दृष्टिकोण अधिक व्यापक कहा जा सकता है। यदि महाभारतकार को व्यावहारिक सत्य स्वीकार न होता तो कर्ण की मृत्यु से शोकग्रस्त युधिष्ठिर को उसके सब सम्बन्धी भाई-भाई के सम्बन्ध की असत्यता अथवा अनित्यता कहकर सान्त्वना देते। पर ऐसा न कहते हुए उन सबने युधिष्ठिर से राज्य स्वीकार करने का ही अनुरोध किया। फलतः महाभारतकार को लौकिक व्यवहार में भी सत्य का अस्तित्व मान्य है, यह स्पष्ट होता है।

शान्तिपर्व में सज्जनों के लिए सदा सत्य का सम्मान किए जाने का निर्देश है। सत्य को परम गति, एवं योग साधन कहा गया है।[1] साथ ही **न सत्यात् विद्यते परम्** का उल्लेख किया है गया। तुलादण्ड में एक ओर सहस्र अश्वमेध यज्ञ और दूसरी ओर सत्य को रखने पर अकेला सत्य हजारों अश्वमेघों की तुलना में अधिक माना गया है।[2] "सत्य कहना ही उत्तम है, सत्य से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। रौद्र कर्म करने वाले पापी मनुष्य भी सत्य का सहारा लेकर अद्रोह एवं अविसंवाद में स्थिर रहते हैं"[3] इस उल्लेख से शान्तिपर्व में सत्य के महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है।

बौद्ध धर्म साधना में महात्मा बुद्ध का **सच्चनाम** (जिनका सत्य नाम है) कहकर उल्लेख किया है। बौद्ध मत में सत्य को इतना महत्त्व दिया गया है कि महात्मा बुद्ध के प्रमुख उपदेश —दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध और दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा को चार आर्य सत्य कहकर सम्बोधित किया गया है। इनमें प्रतिपादित पंचशील में सत्य का न केवल प्रमुख स्थान है अपितु सत्य को अन्य चार शीलों का आधार कहा गया है।

बौद्ध धर्म के "धातुविभङ्ग सुत्त" में कहा गया है कि सत्य ही निर्वाण है जहाँ असत्य का कोई स्थान नहीं है। धम्मपद के ब्राह्मणवग्गो में सत्य बोलने वाले एवं किसी को पीड़ा न पहुँचाने वाले को ही सच्चा ब्राह्मण कहा गया है। एक अन्य स्थान पर

---

1. शान्ति०, अ० 156, श्लो० 5 (भण्डारकर)
2. शान्ति०, अ० 156, श्लो० 16-26 (भण्डारकर)
3. शान्ति०, अ० 251, श्लो० 10,11 (भण्डारकर)

सत्यवादी तथा इन्द्रिय दमन करने वाले व्यक्ति को काषाय धारण करने के योग्य कहा गया है।[1]

पञ्चशील में सत्य के प्रकरण में असत्य न बोलने का प्रण मुसावादा वेरमणि सबके लिए आवश्यक कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि बौद्ध मत में सत्य का उल्लेख "असत्य न बोलो" का उपदेश देकर निषेधात्मक रूप में है। जब कि महाभारत में **सत्यं वद** का उपदेश स्थान-स्थान पर होने से वहाँ सत्य का रूप विधेयात्मक है।

जहाँ तक सत्य बोलने से स्वर्ग प्राप्ति रूपी फल का सम्बन्ध है, महाभारत एवं बौद्ध वाङ्मय दोनों में ही न केवल विचार-साम्य है अपितु भाषा भी लगभग एक-सी है। शान्तिपर्व, दीघनिकाय एवं धम्मपद तीनों के ही अनुसार सत्य बोलने वाला स्वर्ग में जाता है और झूठ बोलने वाला नरक को प्राप्त होता है।[2] पर महाभारत में सत्य की अवधारणा कुछ अधिक व्यापक दृष्टिकोण से की गई प्रतीत होती है, जबकि वहाँ उसी स्वर्ग प्राप्ति के सन्दर्भ में उल्लेख मिलता है कि "सत्य से प्रजासमूह उत्पन्न होते हैं एवं इसी में सारे लोक स्थित हैं।" इस तरह महाभारत में इस सन्दर्भ में सत्य का सम्बन्ध प्रजाजनों की सृष्टि एवं स्थिति से जोड़ा गया प्रतीत होता है।

इन्द्रिय-दमन एवं कामनाओं का त्याग

इन्द्रिय-निग्रह आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में एक प्रमुख चरण है। इस सम्बन्ध में शान्तिपर्व एवं बौद्ध ग्रन्थों के विभिन्न स्थलों पर विवेचन उपलब्ध होता है।

शान्तिपर्व में एक स्थान पर भीष्म पितामह ने इन्द्रिय-दमन का लक्षण करते हुए कहा—"अदीनता, अभिनिवेश, सन्तोष, श्रद्धा, अक्रोध, सरलता, गुरुपूजा, अनसूया, दया, सत्य भाषण और स्तुति-निन्दा का परित्याग ही इन्द्रिय-दमन का लक्षण है। साथ ही विशाल सम्पत्ति पाने पर भी जो आनन्दित नहीं होते और दुःख से विह्वल नहीं होते, वे ही जितेन्द्रिय व्यक्ति सच्चे ब्राह्मण कहलाते हैं।" जितेन्द्रिय मनुष्यों को सत्फलों की प्राप्ति होती है।[3]

इस प्रकरण में महात्मा बुद्ध का कथन है—"शरीर, मन और वाणी आदि इन्द्रियों का संयम अच्छा है। जो इन्द्रिय-दमन करता है, अध्यात्मरत, समाधियुक्त और

---

1. धम्मपद, 1 यमकवग्गो 10।10।
2. शान्ति० अ० 183, श्लो० 2 (भण्डारकर), दीघनिकाय, 3 पाथिकवग्ग, 7 लक्खण सुत्त 16 सत्यवादिता, धम्मपद, 17 कोधवग्गो, 224-4।
3. शान्ति० अ० 213, श्लो० 9-16 (भण्डारकर)

सन्तुष्ट है, जिसने सांसारिक प्रलोभनों को त्याग दिया है वही सच्चा भिक्षु है। जो भिक्षु इन्द्रिय-संयमी है वह दुःखों से छूट जाता है।"[1]

शान्ति पर्व के आपद्धर्मप्रकरण में लोक-कल्याण सम्बन्धी प्रसंग में भीष्म पितामह ने कहा—"महर्षियों द्वारा प्रतिष्ठित धर्म का अनुष्ठान कई रीतियों से सम्भव है। विभिन्न रीतियों में इन्द्रिय-निग्रह ही सर्वोत्तम है। ब्राह्मणों के विषय में इन्द्रिय-निग्रह ही सनातन धर्म है। दान, यज्ञ और वेदाध्ययन की अपेक्षा इन्द्रिय-दमन अधिक उत्तम है। इससे तेज की वृद्धि होती है तथा व्यक्ति पाप रहित, वीर और तेजस्वी होकर महान् फल लाभ कर सकते हैं।[2]

जितेन्द्रिय व्यक्ति के लिए धम्मपद में विवेचन किया गया है कि "जिस प्रकार सारथी घोड़ों को काबू में रखता है उसी प्रकार जिसकी इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं ऐसे अभिमानरहित, जितेन्द्रिय मनुष्य (जीवन) की देवतागण भी इच्छा करते हैं।"[3]

शान्ति पर्व के एक स्थल में इन्द्रिय-निग्रह करने वाले पुरुष द्वारा इस लोक और परलोक में महत् धर्म तथा परम सुख का उपभोग करने का कथन है। साथ ही वही कहा गया है कि "अधर्मी व्यक्ति सदा दुःख भोगते हैं और अपने पापों एवं कार्यों से अनर्थों में फँसते हैं। विद्वान् लोगों की सम्मति है कि चारों आश्रमों के मध्य इन्द्रिय-निग्रह का व्रत या सच्चरित्र होना ही सर्वोत्तम कार्य है।"[4]

जिस प्रकार शान्ति पर्व में यज्ञ आदि की अपेक्षा इन्द्रिय-निग्रह को श्रेष्ठ कहा गया है उसी प्रकार धम्मपद में भी बाह्य आडम्बर एवं विधि-विधानों की अपेक्षा व्यक्तिगत चरित्र को अधिक गरिमापूर्ण कहा गया है। धम्मपद के एकस्थल में वर्णन है—"अन्य शतशः प्रजाओं पर विजय पाने की अपेक्षा अपने आपको जीतना श्रेष्ठ है। अपनी आत्मा का नियन्त्रण करने वाले नित्य संयमी को सर्वत्र प्रतिष्ठा होती है।"[5]

यहाँ महाभारतकार के कथनानुसार दमनशील मानव परम सुख को प्राप्त करता है, तथा बौद्ध मतानुसार परम प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है। बौद्ध ग्रन्थों में क्योंकि दुःख का ही वर्णन उपलब्ध है अतः वहाँ सुख प्राप्ति की बात नहीं कही गई। पर प्रतिष्ठा के विषय में कहने से दोनों में साम्य प्रतीत होता है।

धम्मपद में एक अन्य स्थान पर उल्लेख है—"यदि एक ओर मनुष्य हजारों की दक्षिणा देकर सौ वर्षों तक यज्ञ करे और दूसरी ओर वह विशुद्ध मन से क्षण भर निय-

1. धम्मपद, 25 भिक्खुवग्गो, 360,361, 1-3, 367-8।
2. शान्ति० अ० 154, श्लो० 6-9 (भण्डारकर)
3. धम्मपद, 7 अरहन्तवग्गो, 94-5
4. शान्तिपर्व, अ० 154, 10-14 (भण्डारकर)
5. धम्मपद, 8 सहस्सवग्गो, 104-5

नियन्त्रित होकर चित्त का संयम एवं ध्यान करे, तो सौ वर्षों तक किए गए यज्ञ की अपेक्षा मन का नियन्त्रण एवं ध्यान कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं।"[1]

शान्ति पर्व में भीष्म पितामह का कथन है—"सच्चा तप इन्द्रिय-निग्रह से ही सम्भव है। यह सारा जगत् तपस्या के आधार पर ही चल रहा है। विषयों में इन्द्रियों के लीन होने से ही सारे दोष होते हैं और उनके नियमन से ही मानव सिद्धि प्राप्त कर सकता है।"[2] इन्द्रिय-दमन न करने वाले व्यक्तियों की क्रियासिद्धि यथारीति से पूर्ण नहीं होती। इसी से तपस्या सत्य आदि क्रियाएँ सफल हो सकती हैं। पाप रहित निर्भय जितेन्द्रिय व्यक्ति परम शान्ति से रहते हैं। जिस प्रकार सब पशुओं का नियन्त्रण बन्धन करता है, उसी प्रकार स्वेच्छाचारी व्यक्तियों का नियमन राजा करता है। सब आश्रमों के मध्य इन्द्रिय-दमन ही सर्वश्रेष्ठ है, धर्म एवं आचार के परिपालन से सब आश्रमों में जो फल मिलता है, इन्द्रिय-संयमी व्यक्तियों को उससे भी अधिक फल मिलता है।"[3]

इस उद्धरण से महाभारत में इन्द्रिय-दमन का लाभ आध्यात्मिक दृष्टि से कहा गया प्रतीत होता है।

इसी विषय में धम्मपद में महात्मा बुद्ध ने "इन्द्रियों के नियन्त्रण से ही व्यक्ति की उन्नति सम्भव कही है।" बुद्धिमान् मनुष्य पहले अपने को उचित कार्य में लगाए, उसके बाद ही वह दूसरों को कुछ उपदेश देने का अधिकारी हो सकता है। केवल इसी मार्ग पर चल कर क्लेश का निवारण सम्भव है। साथ ही यदि मनुष्य स्वयं को वैसा बना ले जैसा दूसरों को उपदेश देता है, तो स्वयं जितेन्द्रिय बना हुआ वह दूसरों का दमन करे। क्योंकि वस्तुतः आत्म-नियन्त्रण करना ही अधिक कठिन होता है।"[4]

इन्द्रिय-दमन की आवश्यकता की यह व्याख्या शान्ति पर्व में प्रत्यक्ष रूप से तो नहीं मिलती, पर परोक्ष रूप में महाभारत के ही एक अन्य स्थल गीता में ऐसी व्याख्या उपलब्ध होती है। वहाँ कहा गया है—"मनुष्य को चाहिए कि वह संसार-समुद्र में अपना उद्धार स्वयं करे और अपनी आत्मा की अधोगति न होने दे, क्योंकि यह जीवात्मा ही स्वयं अपना मित्र है और स्वयं अपना शत्रु है। इसी जीवात्मा द्वारा मन और इन्द्रियों सहित शरीर जीत लिया जाता है। जब इसके द्वारा मन और इन्द्रियों सहित शरीर पर विजय प्राप्त नहीं होती, तब वह उसका स्वतः शत्रु के समान हो जाता है।[5]

महाभारत में एक सांसारिक मनुष्य के लिए सीख दी गई है, बौद्ध मत में संसार से उपरत होने वाले भिक्षु के लिए सीख दी गई है। महाभारत में एक राजा को उपदेश

---

1. धम्मपद, 8 शहस्सवग्गो, 106-7
2. शान्तिपर्व, अ० 310,8 (भण्डारकर)
3. शान्तिपर्व अ० 213, 3-8 (भण्डारकर)
4. धम्मपद, 12 अन्तवग्गो, 158,2
5. भगवद् गीता अ० 6, श्लो० 5,6

दिया गया है जब कि बौद्ध ग्रन्थों में भिक्षु को उपदेश दिया गया है तथा महाभारत में इन्द्रिय-दमन से सत्फलों की प्राप्ति होने के कथन में विधेयात्मकता है जब कि बौद्ध धर्म में दुःखों से छुटकारा होने के कथन में निषेधात्मकता है। इसी के साथ महाभारत में उपनिषद् का **तेन त्यक्तेन भुंजीथाः** का सिद्धान्त सब स्थानों पर दिखाई देता है। बौद्ध विचारधारा में सर्वथा त्याग की भावना दिखाई देती है।

इसके अतिरिक्त यहाँ ब्राह्मण और भिक्षु में एक अन्तर भी दृष्टिगोचर होता है। ब्राह्मण कहने से एक सामाजिक प्राणी की अभिव्यक्ति होती है, ब्राह्मण समाज का एक अंग है एक वर्ण विशेष है, दान देना-लेना आदि उसके कार्य हैं। भिक्षु समाज से उपरत हो चुका है अतः वह समाज का अंग नहीं है।

महाभारत के शान्तिपर्व एवं बौद्ध साहित्य की नीतिकथाओं में भी कामनाओं के त्याग एवं इन्द्रिय-निग्रह पर बल दिया गया है। शान्ति पर्व में उल्लेख है—निर्दिष्ट स्थान पर अपने प्रिय को न पाकर उत्पन्न हुए दुःख के बाद वेश्या पिङ्गला आत्मिक शान्ति अनुभव करती है। वह कहती है—"मैंने सब कामनाओं को त्याग दिया है। इस समय मेरे अन्दर इन्द्रिय-विजय और बोध का उदय हुआ, वासना भी दूर हो गई। जिन्हें आशा नहीं है वे ही सुख से सोते हैं। नैराश्य ही परम सुख है।" पिङ्गला इस समय आशा को निराशा में परिणत कर सन्तोष अनुभव करती है।[1]

इसी प्रकार की अकिञ्चन वृत्ति से सुखी होने के उदाहरण के रूप में शान्ति पर्व में शम्पाक नामक ब्राह्मण की कथा भी उपलब्ध होती है। शम्पाक ने धन, स्त्री आदि से विहीन अकिञ्चन व्यक्ति द्वारा गृह त्याग का सुख अनुभव करने की बात कहते हुए दरिद्र को सुखी माना। साथ ही दरिद्रता को लोक में कल्याणकारी एवं सुखस्वरूप कहा। उसके मतानुसार अकिञ्चनता और राज्य दोनों को यदि तुलादण्ड पर तोला आए तो अकिञ्चनता ही राज्य से अधिक गुणशालिनी होगी।

"समृद्धियुक्त मनुष्य कालकवलित की तरह सदा व्याकुल रहता है और जो लोग धन का त्याग कर कामनाओं से शून्य विमुक्त हो जाते हैं उनका आग, चोर, उपद्रव अथवा मृत्यु भी कुछ नहीं कर सकते। अतः कामनाओं की त्यागवृत्ति ही सर्वोत्तम है।"[2]

इसी प्रकार विदेह के राजा जनक की उक्ति है—जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।[3] इच्छाओं और आशाओं के स्थान पर अकिञ्चन निरीह मुनिवृत्ति अपना-

1. शान्तिपर्व, अ० 174, श्लो० 56 से 63 (सातवलेकर),
   168 श्लोक 48 से 52 (भण्डारकर)।
2. शान्तिपर्व अ० 170 श्लो० 2-22 (भण्डारकर)
3. शान्तिपर्व, अ० 178, 1-2 (सातवलेकर)
   अध्याय 171, श्लोक 55-56 (भण्डारकर)

कर ही पिङ्गला और राजर्षि जनक सुखी हुए थे।

बौद्ध साहित्य में भी इन्द्रिय-निग्रह एवं कामनाओं के त्याग के विषय में कुछ उल्लेखनीय कथाएँ हैं। संयुत्त निकाय में प्राचीन और नवीन ब्राह्मणों की कथा कहते हुए उनकी तुलना की गई है और इन्द्रिय-संयम की महत्ता पर बल दिया गया है। महा-कात्यायन ने शरारती लड़कों को बताया "प्राचीन ब्राह्मण अच्छे शील वाले थे, अपने धर्म का पालन करते थे, उनकी इन्द्रियाँ संयत थीं। पर अब सत्कर्मों को छोड़कर गोत्र की रट लगाते हैं। जो व्यक्ति आंख-कान आदि से विषयों के प्रति आसक्ति युक्त होता है वह इन्द्रियों से असंयत होता है। परन्तु जो रूप आदि देखकर आसक्त नहीं होता, वह व्यक्ति वस्तुतः इन्द्रियों में संयत होता है।"[1]

संयुत्तनिकाय में एक अन्य स्थान पर जलती हुई लाल लोहे की सलाई से चक्षु-इन्द्रिय को जला देने का विवरण है, चक्षु-आदि इन्द्रियों से रूप पर आसक्त होना अच्छा नहीं कहा गया। "लोभ में पड़ा हुआ व्यक्ति यदि मर जाता है तो उसकी दो गतियाँ होती हैं, या तो वह नरक में जाता है या पशु-योनि में। अतः चक्षु आदि इन्द्रियाँ तथा इनके धर्म अनित्य हैं। इसे जानकर बुद्धिमान् मनुष्य सब इन्द्रियों तथा उनके विषयों में कामनाओं से शून्य होकर राग रहित हो जाता है। राग रहित होने से विमुक्त हो जाता है, विमुक्त होने से संस्कार एवं जाति समाप्त हो जाते हैं फलतः पुनर्जन्म के चक्र से बच सकता है।"[2]

इन्द्रिय-संयम के लिए संयुत्त निकाय में कछुए की कथा दी गई है। "एक कछुआ शाम के समय नदी के किनारे भोजन की तलाश में निकला। एक सियार भी उसी समय भोजन की खोज में वहाँ आया हुआ था। कछुए ने दूर से आहार की खोज में आते हुए सियार को देखकर अपने अंग समेट लिए और शान्त हो गया। सियार ने दूर से कछुए को देखा। वह वहाँ दाँव लगाकर खड़ा हो गया कि जैसे ही यह अपना कोई अङ्ग बाहर निकालेगा, वैसे ही झपट कर इसे चीर कर खा जाऊँगा। कछुए ने अपना कोई अंग नहीं निकाला, फलतः सियार निराश होकर चला गया। इसी प्रकार मार चक्षु आदि इन्द्रियों पर दाँव लगाए रखता है, अतः साधक को अपनी इन्द्रियों को समेट कर रखना चाहिए। इन्द्रियों से रूप आदि विषयों में प्रवृत्त न होकर उनका संयम तथा रक्षा करनी चाहिए।"[3]

बौद्ध ग्रन्थ में एक स्थान पर तृष्णा का महावृक्ष के रूप में वर्णन है। "विषयों में

---

1. संयुत्त निकाय, षडायतन वर्ग, 9 लोहिच्च सुत्त, पृ० 110।
2. संयुत्त निकाय, षडायतन वर्ग, समुद्र वर्ग 9 आदित्त सुत्त इन्द्रिय संयम (पृष्ठ 152)
3. संयुत्त निकाय, षड़ायतन वर्ग, आशीविष वर्ग, 3 कुम्भ सुत्त (34,4,4,3 पृष्ठ 160)।

आसक्त रहकर जीवन व्यतीत करने से तृष्णा बढ़ती है, इसी से दुःख समूह उत्पन्न होता है। जैसे तेल और बत्ती के होने से ही दीपक जलता रहता है। दोनों के अभाव में वह बुझ जाता है। इसी प्रकार आहार पानी मिलते रहने से महावृक्ष चिरकाल तक रह सकता है। यदि महावृक्ष के मूल को काट दिया जाए, काष्ठ को भी जला कर राख कर दिया जाए तो उसका समूल नाश हो जाएगा। इसी तरह संसार के आकर्षक विषयों में आकर्षण न होने और केवल बुराई देखने से तृष्णा रुक जाती है। तृष्णा एवं कामनाओं का अन्त हो जाने से सारा दुख समूह रुक जाता है।"[1]

शान्ति पर्व में इन्द्रिय-निग्रह सम्बन्धी जो कथाएँ हैं वे जन-सामान्य से सम्बन्धित हैं। पिङ्गला और शम्पाक के उदाहरण से मनुष्य अभाव में भी प्रसन्न हो तथा जनक के उदाहरण से सम्पत्ति होने पर भी निर्लिप्त रह कर सन्तुष्ट हो—यह स्पष्ट जाना जाता है। इन विभिन्न उद्धरणों में संयम के विभिन्न पहलुओं-इन्द्रियों के दमन तथा कामनाओं के त्याग का दिग्दर्शन होता है। आशा में अधिक प्रसन्न न होना, निराशा में दुःखी न होना—की बात से यही समझाने का आशय प्रतीत होता है कि इन्द्रिय-दमन के स्थान पर इन्द्रिय-नियमन अथवा सन्तुलन महाभारतकार को अभीष्ट हैं। दूसरी ओर बौद्ध धर्म के कथानकों में सर्वथा त्याग से ही मनुष्य के लिए सन्तुष्ट रहने का आदेश है। वहाँ इन्द्रिय-निग्रह का चित्रण एकांगी प्रतीत होना है। कछुए की तरह मनुष्य अपनी इन्द्रियों को सर्वथा बन्द रख कर सुरक्षित रक्खे और इसी प्रकार मुक्त हो। साथ ही इन्द्रियों को भूखा रख कर उन्हें समूल नष्ट करने का वर्णन है। जब कि महाभारत में इन्द्रियों को अथवा जीवन को नष्ट करने का प्रतिपादन नहीं किया गया। इन्द्रियों का दमन करने से कामनाओं का त्याग नहीं हो जाता। जब कि कामनाओं के त्याग से इन्द्रियों का संयम स्वतः हो जाता है। यही पक्ष महाभारत के विभिन्न उदाहरणों से प्रतिपादित होता है। जीवन चलता रहे, मनुष्य अपने कर्त्तव्य का पालन इन्द्रिय-संयम पूर्वक करे। वहाँ सब अवस्थाओं में सन्तुलन की अपेक्षा की गई है। इसके अतिरिक्त बौद्ध मत में जहाँ इन्द्रिय-दमन को मोक्ष से जोड़ा गया प्रतीत होता है, वहाँ महाभारत में इन्द्रिय-निग्रह को आचार से जोड़ा गया है ऐसा कहा जा सकता है।

जप

शान्ति पर्व में जहां एक स्थान पर जप के विषय में कहा गया है कि किसी फल की आकांङ्क्षा न करते हुए शुद्ध चित्त होकर परम तत्त्व का ध्यान जप कहा जाता है। तो दूसरे स्थान पर उल्लेख है कि किसी कामना से जप करने वाला उस लोक या कामना को प्राप्त करता है। किसी तरह की आकाङ्क्षा न करने वाला योगासन लगाकर और

---

1. संयुत्त निकाय, निदान वर्ग, अभिसमय सुत्त 6 वृक्ष वर्ग 3-7, पृष्ठ 74।

ध्यानमग्न होकर जो प्रणव का जप करता है वह ब्राह्मी स्थिति से तादात्म्य स्थापित कर लेता है।[1]

यद्यपि बौद्ध वाङ्मय में जप शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, तथापि बौद्धमत में मान्य अष्टाङ्गिक मार्ग के सातवें अङ्ग सम्यक् स्मृति—जो समाधि की पूर्व अवस्था है—का जप के ही समान प्रमुख स्थान है। इसमें मन के सब विकारों को रोक कर चित्तशुद्धि पर बल दिया गया है। साथ ही वहां त्रिरत्न—बुद्ध, धर्म और संघ—का अनुस्मरण, चिन्तन एवं मनन जप की मूल भावना से पृथक नहीं किए जा सकते।" जिस समय साधक त्रिरत्न की अनुस्मृति करता है उस समय उसका चित्त राग, द्वेष आदि विकारों से रहित हो जाता है" यह वर्णन बौद्ध वाङ्मय में विभिन्न स्थानों पर मिलता है।[2]

तप

शान्ति पर्व में तप के विषय में विभिन्न सन्दर्भों में भिन्न-भिन्न विचार उपलब्ध होते हैं। एक स्थान पर व्यास जी ने अपने पुत्र शुकदेव को कहा कि कर्त्तव्य के प्रति तत्परता ही तप है। तथा त्याग ही तपस्या का सार है।[3] एक अन्य स्थल पर प्राणिमात्र की हिंसा न करना, सत्य बोलना, मन और इन्द्रियों का संयम एवं दयाभाव तप कहा है।[4] साथ ही कहीं अनशन को तप कहा गया है यथा—"अनशन से बढ़ कर परम गया तपस्या और कुछ नहीं है। अहिंसा, सत्य वचन, दान और इन्द्रिय दमन से भी उत्तम अनशन है।[5]

तप के विषय में बौद्ध वाङ्मय में विवेचन किया गया है कि ईर्ष्या, क्रोध, हिंसा, चोरी और असत्य आदि दुर्गुणों का त्याग ही तप है। तपस्वी जब उपक्लेशों को प्रज्ञा से दुर्बल करके कायिक, वाचिक और मानसिक सदाचार से विशुद्ध हो जाता है तभी उसका तपश्चरण श्रेष्ट और सार्थक होता है। उसी सन्दर्भ मेंआत्मश्लाघा तथा अभिमान का त्याग तपस्या का प्रमुख अङ्ग कहा गया है।[6]

कस्सप सिंहनाद सुत्त (दीघनिकाय) दीघनखसुत्त (मज्झिम निकाय) में जहां

---

1. निरिच्छंस्त्यजति प्राणान् ब्राह्मी स विशते तनुम्
   शा०अ० 196-21 (सातवलेकर)
   निरीहस्त्यजति प्राणान् ब्राह्मीं संश्रयते तनुम्
   शा०अ०189-19 (भण्डारकर)
2. अङ्गुत्तर निकाय 11,2,2; विशुद्धि मग्ग 7-119,124
3. शान्ति० अ०243, श्लो० 10,11 (भण्डारकर)
4. शान्ति० अ० 79, श्लो० 18 (सातवलेकर); अ० 80 श्लोक17 (भण्डारकर)
5. शान्ति० अ० 155, श्लो० 5-10 (भण्डारकर)
6. दीघनिकाय, 3 पाथिकवग्गो, 25,3,2।

भी कुछ इस प्रकार के भाव व्यक्त किए गए हैं तप के विषय में विशद चर्चा की गई है।

तपस्या से क्या उपलब्धि होती है—इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए व्यास जी का कथन है कि तपस्या से मनुष्य उस ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है, जिसमें अवस्थित होकर वह सम्पूर्ण जगत् से तादात्म्य स्थापित करता है।[1] एक अन्य स्थल पर तपस्या से इष्ट विषयों एवं दिव्य गुणों की प्राप्ति का उल्लेख है।[2]

तपस्या के स्वरूप एवं उसके महत्त्व के सम्बन्ध में महाभारत तथा बौद्ध मत दोनों विचारधाराओं में पर्याप्त समानता प्रतीत होती है। शान्ति पर्व में विशिष्ट संदर्भ में तप के प्रसङ्ग में अनशन पर भी बल दिया गया है, इसकी तुलना में महात्मा बुद्ध ने उस तपस्या को स्वीकार नहीं किया जो शरीर को पीड़ा देती है और वह शरीर के उचित संरक्षण के विरुद्ध नहीं प्रतीत होते। उनकी दृष्टि में साधक अपनी काया से प्रेम नहीं करता, किन्तु उसमें आसक्ति रखे बिना अपने शरीर का पालन करता है।[3] महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेशों में "वीणा के तारों को ढीला न छोड़ो उससे सुरीला स्वर न निकलेगा और न तार इतने कस दो कि वे टूट जाएं एक गीत की इस पंक्ति को प्रमुख स्थान देकर सीख दी कि नियमित आहार-विहार से ही तप सिद्ध होता है, अति किसी बात की अच्छी नहीं। जीवन में मध्यम मार्ग का अवलम्बन ही ठीक है। इसके अतिरिक्त दोनों ही विचारधाराओं में मिथ्यावृत्तियों को छोड़कर सम्यक् वृत्तियों का अवलम्बन सच्चा तप कहा गया है।

त्याग

शान्ति पर्व में त्याग के सन्दर्भ में अकिञ्चनता और राज्य इन दोनों के बीच अकिञ्चनता को अधिक महत्व दिया गया प्रतीत होता है जब एक सन्दर्भ में भीष्म पितामह का यह कथन उपलब्ध है कि "राज्य और समृद्धि समाप्त हो सकती है परन्तु अकिञ्चनता या त्याग में कोई संकट नही है। सब काम्य वस्तुओं की प्राप्ति और समस्त कामनाओं का परित्याग इन दोनों के बीच त्याग ही उत्तम है।"[4]

बौद्ध वाङ्मय में एक स्थल पर महात्मा बुद्ध का कथन है कि "संसर्ग से स्नेह होता है, स्नेह से दुःख होता है। फलतः व्यक्ति को संसर्ग से ही दूर रहकर संसार में खरगोश

---

1. शान्ति० अ० 243, श्लो० 6 (भण्डारकर सं०)
2. शान्ति० अ० 155, श्लो० 11,12 (भण्डारकर सं०)
3. मिलिन्द प्रश्न—भिक्षु जगदीश काश्यप पृ० 73।
4. शा० अ० 170, 11-16 (भण्डारकर)

के सींग की तरह किसी बाधा-अवरोध के बिना मोहहीन रहना चाहिए।"[1]

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर प्रतीत होता है कि शांति पर्व एवं बौद्ध मत दोनों में त्याग पर बहुत बल दिया गया है। पर महात्मा बुद्ध का कथन सिद्धान्त रूप में है, एवं सांसारिक विषयों का त्याग कर भिक्षुवृत्ति अपनाने पर बल दिए जाने से जहाँ त्याग बौद्ध धर्म का प्रमुख आधार कहा जा सकता है, वहाँ महाभारत के विषय में यह स्थिति मान्य नहीं कही जा सकती। शान्ति पर्व में त्याग सम्बन्धी यह वर्णन विशेष सन्दर्भ में है। वहाँ भिन्न-भिन्न स्थलों में कहीं त्याग का महत्त्व कहा गया है, कहीं सुखोपभोग का भी वर्णन किया गया है, सब अलग-अलग प्रसङ्गों में है। युधिष्ठिर को भीष्मपितामह द्वारा दिए गए उपदेश में सबसे पूर्व राजधर्म का उपदेश है, क्योंकि युधिष्ठिर का प्रथम कर्त्तव्य राज्य का पालन करना ही था। उसके पश्चात् आपद् धर्म का वर्णन किया गया और अन्त में अपने सम्पूर्ण कर्त्तव्यों का पालन करने के अनन्तर मोक्ष धर्म का उपदेश दिया गया, जिनमें से अन्तिम का ही मूल मन्त्र त्याग कहा जा सकता है। महाभारत में वर्णित त्याग की महत्ता जीवन की समग्रता के सन्दर्भ के ही अन्तर्गत है।

हिंसा और अहिंसा

महाभारत के शान्ति पर्व में ऐसे विभिन्न स्थल उपलब्ध हैं जहां अहिंसा का गौरव दिखाया गया है, तो कई ऐसे स्थल भी दिखाई देते हैं जहां हिंसा को उचित स्वीकार किया गया है।

अहिंसा के विषय में कई प्रकरण हैं जहां यज्ञ में पशु-बलि के स्थान पर अन्न की आहुति देना उपयुक्त कहा गया है। शान्ति पर्व के 336-10 प्रकरण में कुछ पूर्ववर्त्ती अश्वमेध यज्ञों का उल्लेख है जिनके विषय में प्रशंसापूर्वक कहा गया है कि उनमें किसी प्राणी की बलि नहीं दी गई—**न तत्र पशुघातो** ऽ **भूत्**। एक स्थान पर महाराज विचख्नु का वर्णन है जो यज्ञ में पशु-बलि दिए जाते देखकर कातर हो उठे थे।[2] इसी पर्व के अध्याय 272 में उल्लेख है कि "पशु-वध करके स्वर्ग-लाभ करूंगा" यह विचार करते ही ऋषि की तपस्या नष्ट हो गई। इसी प्रकार तुलाधार-जाजलि सम्वाद में हिंसा और मांसान्न की निन्दा की गई है। वहां कहा गया है—"यज्ञ में मांस खाना व मद्यपान करना धूर्तों की चलाई पद्धति है। भगवान् की पूजा दूध और फलों से की जानी चाहिए।"[3]

---

1. सुत्तनिपात, 3 खग्गविसाणसुत्त पृ० 8।
2. शा० अ० 265 (सातवलेकर); अ० 257 (भण्डारकर)
3. शा० अ० 265 श्लो० 2,5,8-11 (सातवलेकर)
   शा० अ० 257, श्लो० 2,5,8-11 (भण्डारकर)

अहिंसा के ही समर्थन में शान्ति पर्व के एक स्थान पर कहा गया है कि न मारने योग्य होने के कारण गाय को अह्न्या संज्ञा दी गई है। वहीं एक आख्यायिका द्वारा यह दिखाया गया है कि किस प्रकार इन्द्र के यज्ञ में गउओं की रक्षा हित ऋषियों ने करुणा के वशीभूत होकर कहा—"यह यज्ञ धार्मिक नहीं है। गाय की हत्या नहीं करनी चाहिए। अहिंसक कर्म ही सच्चा कर्म है, अन्यथा इस कर्म में पातक होता है। यज्ञ में हिंसा उचित नहीं है।"[1]

बौद्ध साहित्य में स्थान-स्थान पर हिंसा के सिद्धान्त पर बल दिया गया है। धम्मपद के सत्रहवें वर्ग कोधवग्गो में एक गाथा द्वारा कहा गया है कि "जो व्यक्ति हिंसा का त्याग कर देता है वह उस अमरपद को प्राप्त कर लेता है जहाँ दुःख का लेश भी नहीं होता।" इसी ग्रन्थ के दण्डवग्गो प्रकरण में महात्मा बुद्ध का कथन है कि "जो प्राणियों को दण्ड से नहीं मारता है वह मर कर सुख प्राप्त करता है।" एक अन्य स्थान पर महात्मा बुद्ध ने मछलियों एवं प्राणियों की हत्या करने वाले मछुए का आर्य नाम रखना अनुचित कहा है, वहां वे कहते हैं—"प्राणियों की हत्या करने से कोई आर्य नहीं होता। हत्या न करने वाला ही आर्य कहा जाना चाहिए।"[2] एक अन्य स्थल पर अहिंसक को ही सच्चा ब्राह्मण कहा गया है।[3]

महात्मा बुद्ध ने मछलियां मारने वाले मछुए को अनार्य कहा, पर महाभारत में इस प्रकार अपने पेशे के कारण आजीविका चलाने वाले मछुए को अनार्य नहीं कहा जाएगा। वहां वर्ण-व्यवस्था के अनुसार सबके लिए अपनी आजीविका चलाना ठीक कहा है।

सुत्तनिपात के 19 वें ब्राह्मण धम्मिक सुत्त से प्रतीत होता है कि महात्मा बुद्ध को यज्ञ-याग में हिंसा केवल अस्वीकार ही नहीं थी, अपितु वे उसके दुष्परिणामों के विषय में भी सजग थे। वहां वे कहते हैं—"प्रारम्भ में ब्राह्मण सदाचारी और तपस्वी थे, बाद में वैभव देखकर वे यज्ञों में हिंसा करवाने लगे। रथपति राजा ने लाखों गौओं का वध किया। इससे पहले इच्छा, भूख और जरा तीन ही रोग थे, परन्तु पशु-वध से 98 रोग हो गए।"[4]

इसी प्रकार "दीघ निकाय" में एक स्थान पर अहिंसा के समर्थन में महाफल देने वाले यज्ञ की चर्चा है। वहां उल्लेख है—"जिस यज्ञ में गोएँ, सुअर आदि मारे जाते हैं, वहाँ मिथ्या दृष्टि, मिथ्या समाधि आदि होती है, उस यज्ञ का फल अच्छा नहीं

---

1. शा० अ० 265 (सातवलेकर)
2. धम्मपद, 19 धम्मट्ठ वग्गो, 270-15
3. धम्मपद, 26 ब्राह्मण वग्गो, 405।23
4. सुत्त निपात, ब्राह्मण धम्मिक सुत्त, 13,14, 25-29।

होता। तथा जिस यज्ञ में पशु-बलि नहीं दी जाती, वहाँ सम्यक् दृष्टि आदि होती है तथा वह यज्ञ महाफल देता है।"[1]

महाभारत में एक सन्दर्भ में ब्राह्मणों और द्विजों के लिए वर्जित माँसों की सूची दी गई है।[2] जिससे ध्वनित होता है कि उस वर्ग के लिए कुछ विशिष्ट प्रकार का माँस वर्जित नहीं कहा गया। पर सामान्य नियम वहाँ यही प्रतीत होता है कि आध्यात्मिक चिन्तन करने वाले मनुष्य के लिए माँसाहार वर्जित ही माना गया। इसी प्रकार एक स्थान पर वर्णन है कि महात्मा बुद्ध ने भिक्षा में मिलने वाले माँसाहार को, यदि वह उनके सामने हिंसा करके तैयार न किया गया हो तो—स्वीकार करने का समर्थन किया।[3]

कई विद्वानों का मत है कि "महाभारत युद्धप्रधान ग्रन्थ होने से उसमें हिंसा पर विशेष बल दिया गया है। अहिंसा सम्बन्धी प्रकरण बौद्ध प्रभाव के परिणामस्वरूप उसमें जोड़े गए। किन्तु महाभारत पर वैदिक विचारधारा का प्रभाव अधिक है, वेद में यज्ञों का विशेष उल्लेख है इसी से महाभारत में भी यज्ञों का उल्लेख है। तथा वहाँ पशु-बलि का विधान भी है।" परन्तु जैसा कि हम पहले कह चुके हैं—महाभारत केवल उपदेशात्मक ग्रन्थ न होकर जीवन की सम्पूर्णता का द्योतक ग्रन्थ है। अतः इसमें सन्दर्भ के अनुसार अहिंसा तथा हिंसा दोनों का ही अलग-अलग स्थान पर निर्देश किया गया है।

शान्ति पर्व में एक स्थान पर यज्ञों में प्राणियों के बलिदान के विषय में दो पक्ष हैं। ऋषियों ने उन यज्ञों पर बल दिया जिनमें धान्य आदि की आहुति दी जाए, पर देवताओं ने बलि विषयक यज्ञों पर बल दिया।[4] सन्दर्भतः अहिंसा के समर्थन के साथ-साथ इसी पर्व में कुछ ऐसे स्थल हैं जहाँ हिंसा और प्राणियों की बलि का समर्थन भी किया गया है। राजा द्युमत्सेन और सत्यवान के उपाख्यान में आवश्यकतानुसार हिंसा करना भी राजा का कर्त्तव्य बताया गया है। वहाँ उल्लेख है कि राजा द्युमत्सेन के आदेश से कई अपराधी मृत्युदण्ड के लिए ले जाए जा रहे थे। सत्यवान के द्वारा अपराधी के वध को भी अनुचित और अधर्म कहे जाने पर द्युमत्सेन ने कहा कि "अपराधी की आयु, शक्ति एवं काल के अनुकूल दण्ड देना राजा का कर्त्तव्य है।"[5] इस तरह राजा ने हिंसा का समर्थन किया।

---

1. दीघ निकाय, 2 महावग्गप्रकरण (3) पृ॰262
2. शान्ति॰, अ॰ 36, श्लो॰ 22-26 (सातवलेकर)
3. मज्झिम निकाय, 2 मज्फिम पण्णासक, 55 जीवक
4. शान्ति॰ अ॰ 336, श्लो॰ 10-13 (सातवलेकर);
   अ॰ 324, श्लो॰ 10-13 (भण्डारकर)
5. शान्ति॰ अ॰ 267, श्लो॰ 35 (सातवलेकर); अ॰ 259, श्लो॰ 34 (भण्डारकर)

एक अन्य स्थल पर विवेचन किया गया है कि "इस जगत् में ऐसा कोई प्राणी नहीं दीखता जो बिना हिंसा किए ही जीविका निर्वाह कर सके। क्योंकि निर्बल प्राणियों से बलवान् जीवों का जीविका निर्वाह होता है।—विधाता ने सब पदार्थों को प्राणी के भक्ष्य के रूप में पैदा किया है।"[1]

एक स्थल पर तो यहाँ तक कहा गया है कि—"अहिंसा की अपेक्षा हिंसा से अधिक धर्मोपार्जन होता है।" जिसका सन्दर्भ है "जल और स्थल में बहुत से छोटे-छोटे जीव घुसे हुए हैं जिनकी लोग प्राणधारण करने के लिए फल, जल आदि के साथ हिंसा करते हैं।—बहुत से गृहस्थी मनुष्य भूमि-खनन, उद्भिज, अण्डज आदि प्राणियों की हिंसा करके यज्ञकार्यों से स्वर्ग प्राप्त करते हैं—।"[2] इसी प्रकार अध्याय 26 में प्राणि-समूह और धान्य को यज्ञ का भाग कहा गया है। यज्ञ के 17 अंगों में घृत, दूध, दही आदि के साथ पशु को भी गिना गया है।

परिणामतः यह कहा जा सकता है कि जहाँ महाभारत में हिंसा तथा अहिंसा दोनों के ही समर्थक तत्त्व हैं वहाँ बौद्ध साहित्य में हिंसा का समर्थन नहीं मिलता, केवल अहिंसा का ही समर्थन है। महाभारत में जीवन के यथार्थ को किसी प्रकार उपेक्षित नहीं किया गया है। इसीलिए इसमें विभिन्न प्रकरणों में अहिंसा-हिंसा के विषय में भी विविध विचार उपलब्ध होते हैं।

1. शान्ति० अ० 15, श्लो० 24-28 (भण्डारकर)
2. शान्ति० अ० 15, श्लो० 24-28 (भण्डारकर)

अध्याय-तीन

सामाजिक रीति-नीति

वर्ण-व्यवस्था

सामाजिक रीति-नीति पर विचार करते हुए सर्वप्रथम वर्ण के विषय में उल्लेख करना आवश्यक है। समाज के संगठन में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार मुख्य स्तम्भ रहे हैं। ज्ञान-विज्ञान की उन्नति, समाज की रक्षा, समाज की आर्थिक उन्नति और सार्वजनिक सेवा आदि चार मुख्य कर्त्तव्यों के आधार पर समाज का वर्गीकरण किया गया। मूलतः वर्ण-व्यवस्था कर्ममूलक प्रतीत होती है। विद्या एवं ज्ञानार्जन में संलग्न रहने वाले व्यक्तियों को **ब्राह्मण** कहा गया। जिन व्यक्तियों ने समाज की रक्षा करना अपना दायित्व माना वे **क्षत्रिय** कहलाए। व्यापार और कृषि आदि कार्य करने वाले **वैश्य** तथा तीनों वर्णों की सेवा करने वाले **शूद्र** कहे गए। कर्म के आधार पर वर्ण-विभाजन का संकेत गीता में उपलब्ध होता है।[1]

शान्ति पर्व में "वर्णों की उत्पत्ति कैसे हुई" इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए भृगु का कथन है कि "पहले वर्णों में कोई अन्तर न था, ब्रह्मा से उत्पन्न होने के कारण सारा जगत् **ब्राह्मण** ही था। समय के साथ-साथ विभिन्न कर्मों के कारण उनमें वर्णभेद हो गया। जो व्यक्ति **ब्राह्मण** की मर्यादा छोड़कर विषयभोग में प्रवृत्ति वाले, क्रोधी एवं स्वभाव से पराक्रमी थे वे **क्षत्रिय** हो गए। कृषि आदि कार्य करने वाले **वैश्य** एवं निम्न श्रेणी के कार्य करने वाले **शूद्र** हो गए।"[2]

---

1. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः—गीता अ० 4, श्लो० 13।
2. शान्ति० अ० 188, श्लो० 11-13 (सातवलेकर); अ० 181, श्लो० 11-13 (भण्डारकर)।

इस उद्धरण के आधार पर कहा जा सकता है कि महाभारतकार के अनुसार पहले सब **ब्राह्मण** थे, तदनन्तर ऊंच-नीच कर्म करने से विभिन्न वर्ण हुए, इस तरह यहाँ ह्रासात्मक दृष्टिकोण प्रतीत होता है।

शान्ति पर्व तथा बौद्ध साहित्य इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि केवल उच्च कुल में जन्म लेने से किसी का उच्च वर्ण नहीं होता, बल्कि उत्तम कर्मों से ही उसका उच्च वर्ण समझना चाहिए।

चारों वर्णों के वर्गीकरण के विषय में बौद्ध-वाङ्मय के ग्रन्थ **दीघनिकाय** में उल्लेख है कि "प्रारम्भ में समस्त प्राणियों की एक समान स्थिति थी। जब विभिन्न तत्त्वों में व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण चोरी, असत्यभाषण आदि दुर्गुण आ गए, तब बुरे कार्यों को रोकने, अच्छे कार्यों को प्रोत्साहित करने के लिए एक सौम्य एवं शक्ति सम्पन्न व्यक्ति को राजा या क्षत्रिय के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। ध्यान में मग्न रहने तथा भिक्षा-वृत्ति से भरण-पोषण करने वाले ब्राह्मण कहलाए। इसी प्रकार वैश्य और शूद्र भी अपने-अपने कार्यों के फलस्वरूप विभक्त हो गए।"[1]

जैसा कि उपर्युक्त उद्धरणों से प्रतीत होता है कि महाभारत में वर्णों का विभाजन व्यक्तिगत गुणों के आधार पर किया गया है, जब कि बौद्ध धर्म में समाज की आवश्यकता के आधार पर।

इस प्रसङ्ग में यह उल्लेखनीय है कि वर्ण-व्यवस्था में जहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ओर शूद्र—यही क्रम वैदिक परम्परा में सर्वत्र उपलब्ध है; तो महात्मा बुद्ध ने चारों वर्णों का जहाँ भी नाम लिया गया है, वहाँ ब्राह्मण के स्थान पर क्षत्रिय का नाम पहले लेकर क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र-क्रम रखा है। इस क्रम के आधार पर कहा जा सकता है कि शान्ति पर्व में जहाँ चारों वर्णों में ब्राह्मण को प्रमुखता दी गई है वहाँ बौद्ध धर्म में क्षत्रिय को अधिक महत्त्व दिया गया है।

उपर्युक्त विवरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि महाभारत में वर्ण-व्यवस्था का आधार कर्म को स्वीकार किया गया है। बौद्ध-मत में यद्यपि-वर्ण-व्यवस्था मान्य नहीं है, तथापि जहाँ-जहाँ सन्दर्भ में उल्लेख किया गया है, वहाँ कर्म को आधार माना गया है। इसके साथ ही महाभारत में अपने-अपने किए कर्मों के अनुसार (उत्तम कर्मों के फलस्वरूप श्रेष्ठ योनि स्वं निम्न कर्मों के फलस्वरूप निम्न योनि) जन्म प्राप्त होता है। फलतः कोई ब्राह्मण कुलोत्पन्न, कोई क्षत्रिय कुलोत्पन्न कहा जाता है। अतः प्रश्न यह उपस्थित होता है **कि जन्म एवं पुनर्जन्म के साथ कर्म का क्या** सम्बन्ध है ?

---

1. दीघनिकाय, 3 पाथिक वग्ग, 27-4 अग्गम्म सुत्त, पृ० 244-245।

जन्म और कर्म

जन्मान्तरवाद और कर्मफल के विषय **में सामान्य धारणा** है कि संसार दुःखमय है, दुःखों से छूटने और सुख की प्राप्ति के लिए स्वभावतः प्राणियों में इच्छा बनी रहती है। जब तक प्राणी के मन के अन्दर वासनाएँ अवशिष्ट रहती हैं, तब तक उनके कारण प्राणि जगत् नानाविध कार्यों में प्रवृत्त रहता है और अपने अच्छे या बुरे कर्मों के अनुसार एक शरीर छोड़ने पर उत्तम या अधम योनि में नया शरीर धारण करता है। इस प्रकार जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है। इस चक्र के विषय में महाभारत एवं बौद्ध दर्शन की विचारधाराओं में साम्य प्रतीत होता है। इस प्रवाह से छूटने का उद्देश्य बौद्ध मत में वही बताया गया है जो महाभारत में मुक्ति या मोक्ष शब्दों से अभिप्रेत है। हाँ, वहाँ उसे **निर्वाण** संज्ञा दी गई है।

इसी के साथ यहाँ एक मौलिक अन्तर भी कहा जा सकता है। वैदिक एवं औपनिषद् विचारधारा में जन्म-मरण के चक्र में घूमने वाली आतमा को स्वीकार करते हुए उसको निर्मल, कूटस्थ तथा ब्रह्मस्वरूप कहा गया है। इस प्रसङ्ग में शान्ति पर्व में एक स्थान पर कर्म और भोग के नियमानुसार आतमा को इस अनन्त भवचक्र में एक शरीर से दूसरे शरीर में घूमने वाला कहा गया है। वहाँ उल्लेख है कि "सूत का एक धागा जिस प्रकार भिन्न-भिन्न मनको में से जाता है, उसी प्रकार अपने कर्मों के वशीभूत होकर आतमा मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियों में जाता है।"[1] वासना के योग से कर्म होता है कर्म के योग से वासना उत्पन्न होती है। इस तरह यह चक्र निरन्तर चलता रहता है।

बौद्ध विचारधारा में शरीर की शुद्ध, मलिन, चंचल अथवा संयमित अवस्थाओं के मूल में आतम-तत्त्व को स्वीकार ही नहीं किया गया। इस मत के अनुसार (रूप-वेदना-विज्ञान-संज्ञा-संस्कार) पंच स्कन्धों से ही शरीर चलता है और प्राणी विभिन्न कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। कर्म प्रतिक्षण बदलते रहते हैं, एक कर्म दूसरे कर्म का कारण बनता जाता है। उन्हीं के परिणामस्वरूप प्राणियों के शरीर परिवर्तित होते रहते हैं। इस प्रकार बौद्ध मत में आतमा को नहीं माना गया, पर जन्म-मरण के चक्र का मूल कर्म को माना गया है।

अनातमा के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए भी औपनिषद् विचारकों के अनुकूल बौद्ध चिन्तक स्वीकार करते प्रतीत होते हैं कि कर्मों का प्रभाव एक जीवन से दूसरे जीवन तक प्रवाहित रहता है। अङ्गुत्तर निकाय में उल्लेख है कि वर्तमान अस्तित्व से

---

1. शान्ति० अ० 206, श्लो० 1-5 (सातवलेकर); अ० 199,1-5 (भण्डारकर)

तत्काल पूर्ववर्त्ती कारण अविद्या की अनुभूति न होने के परिणामस्वरूप क्षणिक स्थिति या संस्कार का सिद्धान्त बनता है। संस्कार एक प्राणी के पूर्ववर्त्ती कर्मों का संग्रह प्रदर्शित करते हैं। पूर्वजन्म के कर्म चेतनता में प्रसारित हो जाते हैं, फलतः पुनः अस्तित्व की प्रतिष्ठा प्रतिसन्धिविज्ञान होता है। यह प्रक्रिया स्रोत से प्रवाहित जल के समान अप्रतिहत रूप से चलती है। सुत्तनिपात में कम्म या कर्म पर बल दिया गया है। वहाँ उल्लेख है कि प्रत्येक प्राणी अपने अतीत के कर्मों के आधार पर जन्म लेता है। इसी आधार पर वह कृषक, शिल्पी या राजा बनता है।

कर्म की महत्ता के विषय में शान्तिपर्व में कहा गया है कि "मनुष्य अपने प्रारब्ध के अतिरिक्त पराये भाग्य से कभी फलभागी नहीं हो सकता, अतः कर्म अवश्य करना चाहिए। कर्महीन मनुष्य को किसी दूसरे विषय में भी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।"[1]

महाभारत में कर्म करवे पर बल दिया गया है पर आसक्तिविहीन भावना से। आसक्ति रहित कर्म बन्धन में नहीं डालते। निष्काम भाव से किए गए कर्मों का फल मोक्ष प्राप्त करवा सकता है। यदि कर्म है तो समाज है, कर्म का त्याग करने से वर्णसंकर हो सकता है। प्रत्येक वर्ण के लिए अपना-अपना कर्म करना आवश्यक कहा गया है। जन्म और कर्म का सम्बन्ध महाभारत और बौद्ध वाङ्मय दोनों में समान है यथा कर्म के फलस्वरूप जन्म होता है, पर महाभारत में मोक्ष के सन्दर्भ में निष्काम कर्म करने पर बल दिया गया है जबकि बौद्ध मत में कर्म-त्याग की बात कही गई है। जैसे कर्म किए जाएंगे वैसे संस्कार होंगे। संस्कार के फलस्वरूप मनुष्य बन्धन में पड़ता है। अतः वहाँ कर्म को बन्धन माना गया है।

स्वभावतः जिज्ञासा होती है कि समाज में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था का आधार जन्म है अथवा कर्म? शान्तिपर्व के 188 अध्याय में उल्लेख है—"ब्रह्म ने पहले ब्राह्मणों को उत्पन्न किया। उनकी स्वर्ग प्राप्ति के लिए सत्य, धर्म, तप, वेद और आचार को उत्पन्न किया। तदनन्तर मनुष्यों के क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा दूसरे प्राणियों के वर्णों का निर्माण किया। बाह्मणों का वर्ण शुभ्र है, क्षत्रियों का लाल, वैश्यों का पीला और शूद्रों का काला। इस पर प्रश्न किया गया कि यदि रङ्गों के कारण वर्णों का भेद माना जाता है, जब कि सभी वर्णों में सभी रङ्ग तथा काम, क्रोध एवं कफ, पित्त आदि विकार एक समान दिखाई देते हैं, तो ऐसी स्थिति में वर्ण-भेद मानने का क्या अर्थ है? इसके उत्तर में भृगु ने कहा कि अपने-अपने गुणों एवं कर्मों की विभिन्नता से ही वर्ण-भेद हो गया।"[2] इससे प्रतीत होता है कि सत्व, रज और तम के काल्पनिक रंगों के आधार पर वर्णों की,

1. शान्ति० अ० 10, श्लोक 26 (भण्डारकर संस्करण)
2. शान्ति० अ० 188,189 भृगु० भारद्वाज सम्वाद (सातवलेकर), अ० 181-182 (भण्डारकर)।

तथा कर्मों के फलस्वरूप एक ही जाति के भिन्न-भिन्न वर्ण होने की कल्पना की गई।

वर्ण-व्यवस्था का आधार जन्म न होकर प्रवृत्तियों और कार्य के आधार पर निर्धारित किया गया, इस कल्पना की पुष्टि बौद्ध-वाङ्मय से भी होती है। **दीघनिकाय** में एक स्थान पर उल्लेख है कि वाशिष्ट ब्राह्मण ने प्रव्रज्या की इच्छा से महात्मा बुद्ध से कहा—"अन्य ब्राह्मण मेरी निन्दा करते हैं और कहते हैं ब्राह्मण शुक्ल वर्ण हैं, शेष कृष्ण वर्ण हैं। श्रमण होने का अभिप्राय तुम्हारा अपने उच्च वर्ण से निम्न श्रेणी में जाना होगा।" महात्मा बुद्ध ने ब्राह्मण क्षत्रियों में एक समानजीवन-चर्या-चर्चा व प्रवृत्तियाँ होने का उल्लेख किया। तथा कहा कि चारों वर्णों में अच्छे-बुरे कार्य करने वाले दोनों प्रकार के मनुष्य होते हैं। उनमें जितेन्द्रिय, परोपकारी व्यक्ति अपने उत्तम कर्मों के कारण ही श्रेष्ठ माने जाते हैं अधर्म के कारण नहीं।"[1] यहाँ शुक्ल और कृष्ण कर्मों के अच्छे एवं बुरे अर्थ में प्रयुक्त है।

बौद्ध साहित्य में एक अन्य स्थान पर उल्लेख है—एक बार गोव्रतिक और कुक्कुरव्रतिक द्वारा अपने भविष्य के विषय में पूछे जाने पर महात्मा बुद्ध ने उत्तर दिया—"गाय और कुत्ते के समान आहार-विहार करने वाले व्यक्ति अगले जन्म में गाय और कुत्ता होंगे। साथ ही उन्होंने चार प्रकार के कर्म बताए—कृष्ण विपाक (बुरे परिणाम वाला), शुक्ल (अच्छे परिणाम वाला), कृष्ण-शुक्ल (अच्छे और बुरे मिश्रित), अकृष्ण-अशुक्ल (न अच्छा न बुरा)। अपने कायिक, वाचिक और मानसिक पीड़ा युक्त संस्कारों से व्यक्ति पीड़ायुक्त लोक में उत्पन्न होता है। वहाँ उसे पीड़ायुक्त संस्कार स्पर्श करते हैं फलतः उसे वेदना होती है—।[2]

बौद्ध-साहित्य के उपर्युक्त उद्धरण के आधार पर भी कहा जा सकता है कि शुक्ल और कृष्ण शब्दों को कर्मों के अच्छे एवं बुरे अर्थ में प्रयुक्त कर उनके अनुसार ही अच्छे व बुरे फल के रूप में उच्च व निम्न स्थिति प्राप्त करने के मत की पुष्टि की गई है।

पुनर्जन्म

जन्म के साथ पुनर्जन्म का प्रश्न सम्बद्ध है, अतः इस पर विचार करना अभीष्ट है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि कर्मों के अनुसार प्राणियों का एक के बाद दूसरा शरीर बदलता रहता है, अर्थात् मरणोपरान्त प्राणियों का पुनः-पुनः जन्म होता है।

---

1. दीघनिकाय, 3 पाथिकवग्ग 26 आगम सुत्त (3-4)
2. मज्झिम निकाय, 57 कुक्कुरवातिक सुत्त।

इस प्रसङ्ग में शान्ति पर्व में उल्लेख है कि "जिस प्रकार जल डालने से मिट्टी युक्त खेत में अङ्कुर जमते हैं, उसी प्रकार मनुष्यों के कर्मबीज स्थानीय होकर पुनर्जन्म के कारण बनते हैं।"[1] इसी पर्व में एक स्थल पर कहा गया है कि जो मनुष्य स्वयं आत्मघात करता है वह दुःख भोगने के लिए पुनः वैसा ही शरीर प्राप्त करता है।"[2]

इसकी समानता में बौद्ध-वाङ्मय में भी वर्णन किया गया है। एक बार राजा पायासी के द्वारा जिज्ञासा किए जाने पर "क्या मरने के बाद जीवन नष्ट हो जाता है" काश्यप ने उत्तर दिया--"ये लोक और परलोक दोनों हैं। अपने किए हुए कर्म का फल भोगने से कोई नहीं बच सकता। जिस प्रकार कोई जन्मान्ध तारों को स्वयं नहीं देख सकता, पर दूसरों के कथनानुसार अनुमान लगाता है। उसी प्रकार परलोक भी इन पार्थिव नेत्रों से दिखाई नहीं देता, उसे अलौकिक दिव्य चक्षुओं से देखना पड़ता है—।"[3]

पुनर्जन्म के विषय में महाभारत और बौद्ध वाङ्मय में समानता होते हुए भेद भी प्रतीत होता है। महाभारतकार के अनुसार जब तक परम आत्मा के उन्नित ज्ञान से मनुष्य के कर्मों का नाश नहीं होता, तब तक उसे संसार की विभिन्न योनियों में चक्कर लगाना पड़ता है। इस प्रसङ्ग में राजा जनक का कथन है—"जिस प्रकार भाड़ में भुने हुए बीज अङ्कुरोत्पत्ति में समर्थ नहीं होते, उसी प्रकार मेरी बुद्धि भी वासना रहित होने से किसी भी विषय में प्रवृत्त नहीं होती--।"[4]

महाभारत में पुनर्जन्म से छुटकारा पाने के लिए परम तत्त्व का ज्ञान आवश्यक माना गया है, पर बौद्ध मत में परम आत्मा व उसके ज्ञान को कोई स्थान नहीं है। अपने अष्टाङ्गिक मार्ग में महात्मा बुद्ध ने परम आत्मा के लिए कोई स्थान नहीं दिया है। **उनके मतानुसार किसी अदृश्य सत्ता की खोज करने की अपेक्षा दृश्य जगत् पर विश्वास करना ही श्रेयस्कर है, एवं मनुष्य को किसी परम आत्मा की खोज में न लगकर स्वावलम्बी बनते हुए "स्वयं अपना उद्धार करना चाहिए।"** बौद्ध मत में मरणोपरान्त किसकी सत्ता है, इसका कोई उल्लेख नहीं है।

बौद्ध ग्रन्थों में अनत्ता शब्द मिलता है। जगत् में जो कुछ दृष्टिगोचर होता है वही दृश्य जगत् मानते हैं। परम तत्त्व के विषय में कोई स्पष्ट वर्णन नहीं है। आत्मवादी तो आत्मा नामक शक्ति को हमेशा विद्यमान रहने वाली अपरिवर्तनशील मानते हैं। पर महात्मा बुद्ध के कथनानुसार प्रत्येक प्राणी में पांच स्कन्ध होते हैं। जब ये स्कन्ध आत्मा के साथ व्यवहृत नहीं होते, तो आत्मा का अस्तित्व कैसे हो सकता है। इस जगत् में सब कुछ परिवर्तनशील है। परिवर्तन होने से शाश्वत रूप भी नहीं रहता, पूर्ण रूप से नष्ट

---

1. शान्ति० अ० 308, श्लो० 32 (भण्डारकर)
2. शान्ति० अ० 286, श्लो० 12 (भण्डारकर)
3. दीघ निकाय, 2 महावग्ग, 23 (10) पायासि-राजम्भ सुत्त
4. शाति० अ० 308, श्लो० 33-38 (भण्डारकर)

न होने से उच्छेद भी नहीं होता। अतः महात्मा बुद्ध शाश्वतवादी भी नहीं तथा उच्छेद-वादी भी नहीं कहे जा सकते।

ब्राह्मणचिन्तक इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक प्राणी में एक स्थायी आत्मा का निवास होता है। वह कर्मों के प्रभाव का वाहक होता है, फलतः वह एक जीवन से दूसरे जीवन के मध्य कड़ी का कार्य करता है। पर बौद्ध चिन्तक आक्षेप करते हैं कि यह कैसे सम्भव है कि एक तत्त्व जो प्रकृति से शुद्ध है वह अशुद्ध तथा बन्धन में आबद्ध पदार्थ से सम्बद्ध हो। वात्सिपुत्रीय आदि कुछ बौद्ध विचारकों के मतानुसार एक शाश्वत आत्मा न हो यह सम्भव है, पर पाँच स्कन्धों के अतिरिक्त कोई तत्त्व अवश्य है जो अहंभाव का आधार है। अन्यथा बुद्ध कैसे कहते कि पूर्व जन्मों में उनका ऐसा स्वरूप था। अहंभाव की यह स्थिति ही एक जीवन को दूसरे जीवन से जोड़ती है। वात्सिपुत्रीय ने 'आत्मन्' शब्द के स्थान पर पुद्गल या पुग्गल शब्द का प्रयोग किया है।

महात्मा बुद्ध ने वच्चगोत्त और मालुख्यपुत्त आदि बौद्ध विचारकों से विवाद करते हुए स्पष्ट किया था कि "जैसे बुझने के बाद दीप की ज्योति का पाना कठिन होता है, इसी प्रकार मृत्यु के बाद आत्मा की खोज व्यर्थ है। अपने हेतु एवं परिस्थितियों के कारण ज्योति दृश्यमान होती है, तथा तेल और बत्ती आदि कारणों के लुप्त होने पर वह अदृश्य हो जाती है।" (संयुत्त निकाय)। इस प्रकार बुद्ध के मतानुसार एक स्थायी आत्मा के अस्तित्व की प्रतिष्ठा सम्भव नहीं है।

ब्राह्मण

सभ्यता एवं संस्कृति के आधारस्तम्भ विद्या, धर्म और आचार को अपने जीवन एवं आचरण में चरितार्थ करने वाला वर्ग ब्राह्मण कहलाया। शान्ति पर्व के अनेक स्थलों में ब्राह्मण के लक्षणों और कर्त्तव्यों का विवरण दिया गया है। एक स्थान पर पवित्र, सदाचारी, असंग्रही, एवं तपस्वी मनुष्य को **ब्राह्मण** कहा गया है।[1] ब्राह्मणों की अधिक विशेषता बताते हुए एक अन्य स्थल पर विद्या, शम और दम से युक्त, सबमें समदर्शी ब्राह्मणों को ब्रह्मतुल्य कहा गया है। साथ ही स्वकर्म में रत होकर ऋक्, यजु, साम—तीनों वेदों को जानने वाले ब्राह्मणों को देवता-तुल्य माना गया है।[2]

इसी पर्व में एक स्थान पर ब्राह्मण के—अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान

---

1. शान्ति० अ० 189, श्लो० 2-3 (सातवलेकर);
   अ० 182, श्लो० - 23 (भण्डारकर)
2. शान्ति० अ० 77, श्लो० 2-3 (भण्डारकर)
   उद्योगपर्व अ० 43, श्लो० 20।

प्रतिग्रह आदि कर्त्तव्य कहे गए हैं।[1] अन्य स्थलों पर भी ब्राह्मण के कर्त्तव्यों का उल्लेख है।[2]

राज्य में ब्राह्मणों की स्थिति के विषय में शान्ति पर्व में कहा गया है कि ब्राह्मणों के मध्य जो निषिद्ध कर्म करते हैं उनके और अब्राह्मणों के धन का स्वामी राजा होता है।—राजा दूसरे धन्धों में लगे हुए ब्राह्मणों की उपेक्षा न कर उन्हें राज्य के अनुशासन में नियन्त्रित रखे। जिस राजा के राज्य में ब्राह्मण चोर हो, उस अपराध के लिए राजा को ही दोषी कहा गया है, तथा उसको राज्य से निकाल दिए जाने का भी निर्देश दिया गया है।[3]

ब्राह्मणों के कर्त्तव्यों को महत्त्व देते हुए शान्तिपर्व में उन ब्राह्मणों को ब्राह्मण नहीं माना है जिनके कर्म ब्राह्मणोचित नहीं हैं। ब्राह्मणों के मध्य मन्त्री आदि को क्षत्रियों के तुल्य, अश्वारोही, गजारोही, रथी आदि को वैश्यों के समान, तथा नीच कर्म करने वाले मनुष्यों को शूद्र तुल्य मानकर राजा द्वारा उनसे कर लेकर वेतन दिए बिना ही सेवाकार्य करवाने का कथन है।[4]

बौद्ध वाङ्मय में ब्राह्मण के प्रसङ्ग में एक स्थान पर अहिंसक, अक्रोधी, व्रतवान्, शीलवान्, बहुश्रुत और जितेन्द्रिय को ब्राह्मण कहा गया है।[5] एक अन्य स्थान पर दूसरों के क्रोध, अपशब्द, हिंसा एवं बन्धन को सहन करने वाले, मन-वचन-कर्म से संयमित, अनासक्त एवं आशाहीन को सच्चा ब्राह्मण कहा गया है।[6] एक प्रसङ्ग में महात्मा बुद्ध का कथन है कि "जटाओं, गोत्र एवं जन्म से कोई मनुष्य ब्राह्मण नहीं होता, अपितु जिसमें सत्य और धर्म है, जो अकिञ्चन है वही ब्राह्मण है, क्योंकि वह संग्रहशील नहीं है।"[7]

मज्झिम निकाय में एक स्थान पर वाशिष्ट और भारद्वाज के वादविवाद का उल्लेख है। भारद्वाज को ब्राह्मण जन्म के आधार पर मान्य था, एवं वाशिष्ट को कर्म के आधार पर। महात्मा बुद्ध ने कहा कि "पशु, पक्षी आदि में जाति का पृथक्-पृथक् लिङ्ग

---

1. शान्ति॰ अ॰ 234, श्लो॰ 11 (सातवलेकर); अ॰226, श्लो॰ 11 (भण्डारकर)
   देखिए अनुशासनपर्व अ॰ 151, श्लो॰ 6।
   मनुस्मृति, अ॰ 10, श्लो॰ 75।
2. शान्ति॰ अ॰ 60, श्लो॰ 9 (भण्डारकर)
3. शान्ति॰ अ॰ 76, श्लो॰ 11-13 (भण्डारकर);
   अ॰ 77, श्लो॰ 2-3 (सातवलेकर)
4. शान्ति॰ अ॰ 77 श्लोक 4-6 (सातवलेकर)
5. धम्मपद, 26-18।
6. धम्मपद, 26-11।
7. धम्मपद 26 ब्राह्मणवग्गो, 11,12, 13,14।

हैं, इस प्रकार का जाति-लिंग मनुष्यों में पृथक् नहीं है। अंगों में कोई भेद नहीं हैं, भेद केवल संज्ञा में है। उनमें कृषि आदि से जीविका चलाने वाला कृषक है, शिल्प से जीविका चलाने वाला शिल्पी, शस्त्र से शस्त्रजीवी, ये सब ब्राह्मण नहीं कहलाते। फलतः विभिन्न कर्मों से ही मनुष्यों की भिन्न-भिन्न संज्ञा होती है।"[1]

बौद्ध ग्रन्थ में ब्राह्मण का लक्षण विशेषतया उसके आचरण से जोड़ा गया प्रतीत होता है। शान्ति पर्व में ब्राह्मण के लिए आचरण के साथ वेद आदि के अध्ययन पर विशेष बल दिया गया है। कर्म के आधार पर ब्राह्मण को मानने का सिद्धान्त दोनों को मान्य है।

क्षत्रिय

वैदिक परम्परा में ब्राह्मण के पश्चात् क्षत्रिय का स्थान आता है। विद्वत्ता और धर्म-परायणता की दृष्टि से ब्राह्मणों का उच्च स्थान हुआ तथा समाज और राष्ट्र की सुरक्षा के कारण क्षत्रियों की भी विशेष महत्ता रही है। सुरक्षा की स्थिति होने पर ही न केवल ब्राह्मणों का, बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र का अवलम्बन सम्भव है।

शान्ति पर्व में क्षत्रिय की परिभाषा की गई है—"जो मनुष्य युद्ध आदि कार्यों का आश्रय लेता है, वेदों के अध्ययन में संलग्न रहता है, ब्राह्मणों को दान देता है और प्रजा की रक्षा करता है, वह क्षत्रिय है।"[2] इसी पर्व में एक अन्य स्थान पर जैसे दान, अध्ययन और तपस्या ब्राह्मणों का धर्म है उसी प्रकार शत्रुओं का संहार एवं धर्म का उल्लंघन करने वाले अत्याचारी गुरु आदि का भी युद्ध में वध करने वाले को धर्मात्मा क्षत्रिय कहा गया है।[3] एक अन्य स्थान पर क्षत्रिय के लिए दण्ड धारण करने पर बल दिया गया है।[4]

बौद्ध साहित्य में क्षत्रिय की उत्पत्ति का रोचक वर्णन उपलब्ध होता है।—"व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण दुर्गुणों का आधिक्य हो जाने पर सब प्राणियों ने एक शक्तिशाली व्यक्ति को चुनने का निर्णय किया, जो दुष्कर्मों का नियन्त्रण करे। तदनुसार एक मुखिया चुना गया जिसको सबका अनुशासन करने तथा उसके लिए धान्य का एक निश्चित भाग देने के सम्बन्ध में कहा गया। उस व्यक्ति का महाजनों द्वारा सम्मत होने से पहला नाम **महासम्मत**, क्षेत्रों का अधिपति होने से दूसरा नाम **क्षत्रिय**, तथा प्रजाओं

---

1. मज्झिम निकाय, मज्झिम पण्णासक, पृ० 465।
2. शान्ति० अ० 189, श्लो० 5 (सातवलेकर); अ० 182, श्लो० 5 (भण्डारकर)
3. शान्ति० अ० 55, श्लो० 15, 16 (भण्डारकर)
4. शान्ति० अ० 23, श्लो० 13 (भण्डारकर)

का रञ्जन करने से तीसरा नाम **राजा** पड़ा।[1] इस प्रकार बौद्ध मतानुसार क्षत्रिय का जन्म लोकमत अथवा एक प्रकार के सामाजिक समझौते से हुआ।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है बौद्ध वाङ्मय में वर्ण-क्रम में ब्राह्मण से पहले क्षत्रिय का नाम लेकर क्षत्रिय की श्रेष्ठता परबल दिया गया है। एक स्थान पर वैवाहिक सम्बन्धों की दृष्टि से स्त्री अथवा पुरुष की ओर से ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रिय को श्रेष्ठ कहा गया है। तथा किसी अपराध वश यदि क्षत्रिय को राष्ट्र से निर्वासित करना पड़े, इससे यद्यपि वह अन्य क्षत्रियों में निम्न स्थिति को प्राप्त हो जाए, **तथापि ब्राह्मण से उसको उत्तम माना गया है।**[2]

बौद्ध साहित्य के किन्हीं 2-1 स्थलों पर ही ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रिय की श्रेष्ठता सम्बन्धी विवरण हैं, पर धम्मपद के ब्राह्मण वग्ग, दीघ निकाय के सोमदण्ड सुत्त आदि अन्य कई स्थानों पर ब्राह्मण के ही धर्म एवं कर्त्तव्यों तथा विशेषताओं का वर्णन किया गया है। क्षत्रिय के कर्त्तव्य व विशेषताओं का उल्लेख वहाँ उपलब्ध नहीं होता। तथापि प्रजाजनों के संरक्षण के कारण क्षत्रिय का महत्व शान्तिपर्व एवं बौद्ध मत दोनों में समान रूप से माना गया प्रतीत होता है।

वैश्य

वैदिक वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मण एवं क्षत्रिय के साथ वैश्य को भी द्विजों में परिगणित किया गया। माता से जन्म के पश्चात् उपनयन द्वारा दूसरा सांस्कृतिक जन्म होने से ये द्विज कहलाए। जिस प्रकार अध्ययन-अध्यापन एवं संरक्षण के कारण ब्राह्मण और क्षत्रिय समाज के आधारस्तम्भ माने गए, उसी प्रकार आर्थिक और लौकिक आधार के कारण वैश्यों का विशिष्ट स्थान हुआ।

शान्ति पर्व में वैश्य की परिभाषा करते हुए कृषि और पशु-पालन करने वाले, दान में संलग्न, पवित्रता और वेदाध्ययन से युक्त व्यक्तियों को वैश्य कहा गया है।[3] इस पर्व में जिस वर्ण-व्यवस्था का उल्लेख है उसके अन्तर्गत वैश्य के वाणिज्य, गो-सेवा,

---

1. दीघ निकाय, पाथिक वग्ग, अगम्म सुत्त
2. दीघ निकाय, सीलक्खन्ध वग्ग, 3-3 अम्बट्ठ सुत्त।
3. शान्ति० अ० 189, श्लो० 6 (सातवलेकर); अ० 182, 6 (भण्डारकर)
   (क) मनुस्मृति, अ० 1, श्लो० ९0
   (ख) वराहपुराण—स्वाध्यायं यजनं दानं कुसीदं पशुपालनम्
   (ग) पाराशरस्मृति—आचार काण्ड 1, श्लो० 63
   (घ) गीता, कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्मस्वभावजम्, अ० 18, श्लो० 44

कृषि, यज्ञ और पवित्रतापूर्वक धनसंग्रह[1] आदि मुख्य कर्त्तव्य कहे गए हैं।

उपर्युक्त उद्धरणों में वैश्यों के कर्म धन-संग्रह के साथ पवित्रता शब्द के उपयोग से स्पष्ट होता है कि धनोपार्जन पवित्र साधनों द्वारा ही उचित कहा गया है। धोखा, भ्रष्टाचार आदि को अवांछनीय समझा गया। साथ ही वाणिज्य आदि कार्यों में धार्मिकता रहे, इस दृष्टि से श्रम और दान दोनों पर ही महाभारत में बल दिया गया है।

सन्मार्ग से धनोपार्जन द्वारा अपनी जीविका-निर्वाह करने वाले वैश्य का महत्त्व एक मुनि से अधिक हो सकता है, इसकी पुष्टि शान्तिपर्व में दिए गए मुनि जाजलि और तुलाधार वैश्य के कथानक से होती है।[1] "समाधि की अवस्था में स्थित हुए जाजलि मुनि की जटाओं में चिड़ियों के एक युगल ने अण्डे दे दिए। वे उस स्थान पर तब तक खड़े रहे जब तक अण्डे फूट कर बच्चे बढ़ कर उड़ नहीं गए। इस कठिन तपस्या के बाद जाजलि को अभिमान हो गया, परन्तु भविष्यवाणी से उन्हें मालूम हुआ कि उनके तप की अपेक्षा वैश्य तुलाधार का प्रेम का सिद्धान्त अधिक सार्थक है। वह मन, वचन, कर्म से सबके हितकार्यों में संलग्न है, बिना पक्षपात व द्वेष के अपना कार्य करता है, निरभिमान होकर अपने कर्त्तव्य में संलग्न है।—अनासक्त भावना से कार्य करने वाला व्यक्ति ब्रह्म में लीन हो जाता है।"[2]

महाभारत के इस प्रकरण से प्रतीत होता है कि मुक्त होने के लिए वैश्य के लिए **गृहत्याग आवश्यक नहीं है**। सामान्य जीवन में ही अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए वह अपना इहलोक एवं परलोक सुधार सकता है।

बौद्ध साहित्य में एक स्थान पर क्षत्रिय, ब्राह्मण एवं वैश्यों की उत्पत्ति के विषय में कुछ इस प्रकार कहा है--"समाज की व्यवस्था के नियमन तथा अध्ययन एवं ध्यान में संलग्न होने के कारण क्षत्रिय एवं ब्राह्मण की उत्पत्ति हुई। जो व्यक्ति इन कार्यों के अतिरिक्त अन्य व्यवसाय आदि में संलग्न हुए वे वैश्य कहलाए।"[3]

वैश्य के सम्बन्ध में शान्ति पर्व एवं बौद्ध वाङ्मय में दिए गए लक्षणों से प्रतीत होता है कि अपने कार्यों की दृष्टि से **दोनों में वैश्य का समान स्थान है**।

बौद्ध धर्म के साधन पक्ष में अष्टाङ्गिक मार्ग की विशेष महत्ता है। वहाँ दृष्टि, संकल्प, वचन, आचार-व्यायाम, स्मृति और समाधि के साथ-साथ व्यक्ति के लिए सम्यक् आजीव अथवा उचित रूप से आजीविका चलाना आवश्यक माना गया है। दीघ निकाय में महापुरुषों के जहाँ 32 लक्षण कहे गए हैं, वहाँ परोपकार, अहिंसा, सदाचार आदि के साथ सम्यक् आजीव पर भी बल दिया गया है।

---

1. शान्ति० अ० 60, श्लो० 21,22,26 (भण्डारकर)
2. शान्ति० अ० 261-264 (सातवलेकर); अ० 253-256 (भण्डारकर)
3. दीघ निकाय, 3 पाथिकवग्ग, 27 (4) अग्गम्म सुत्त-वैश्य की उत्पत्ति।

बौद्ध वाङ्मय में सम्यक् आजीव का जो वर्णन उपलब्ध है वह यद्यपि मनुष्य मात्र के लिए है, पर क्योंकि आजीविका का सम्बन्ध मुख्य रूप से वैश्य के साथ है अतः ऐसा प्रतीत होता है कि सम्यक् आजीव का वर्णन विशेष रूप से वैश्यों को लक्ष्य करके किया गया है, जैसा कि दीघ निकाय के निम्न उद्धरण से स्पष्ट होता है—"वे मिथ्या आजीव छोड़कर सम्यक् आजीव से जीविका-निर्वाह करते थे। वे तराजू की प्रवंचना, रिश्वत, कुटिलता आदि कर्मों से दूर रहते थे।"

इससे प्रतीत होता है कि बौद्ध मत में भी वैश्यों को अपने व्यवसाय आदि के कारण समुचित स्थान दिया गया, पर शान्ति पर्व से कुछ भेद भी कहा जा सकता है। बौद्ध वाङ्मय में तुलाधार-जाजलि जैसा उदाहरण उपलब्ध नहीं होता। वहाँ गृहस्थ होते हुए **वैश्य का मोक्ष-प्राप्त** करने का उल्लेख नहीं है, मुक्त होने के लिए वैश्य के द्वारा **भिक्षुवृत्ति अपनाने पर ही** वल दिया गया है।

शूद्र

जो वेद और सदाचार का परित्याग कर सदा सब कुछ खाने में अनुरक्त रहता है, सब तरह के कार्य करता है और अपवित्र रहता है—शान्ति पर्व में उसको शूद्र कहा गया है। इसी पर्व के विभिन्न स्थानों पर शूद्र के कर्त्तव्य के विषय में उल्लेख किया गया है। एक स्थान पर प्रजापति द्वारा अन्य तीनों वर्णों के सेवक के रूप में शूद्र की सृष्टि किए जाने का कथन है, इसी से उसको महान् सुख की उपलब्धि कही गई है। साथ ही शूद्र के लिए धन-संग्रह किए जाने का निषेध किया गया है, क्योंकि धन पाकर वह बड़े पाप की ओर प्रवृत्त हो जाता है और अपने से श्रेष्ठतम पुरुषों को भी अपने अधीन रखने लगता है।[1]

शान्ति पर्व में एक अन्य स्थान पर द्विजातियों द्वारा अपने सेवकों का सदा भरण-पोषण किया जाना उनका प्रमुख कर्त्तव्य कहा गया है। साथ ही यह भी उल्लेख है कि यदि स्वामी सन्तानहीन, वृद्ध अथवा अशक्त हो तो उसके सेवक शूद्र को उसका भरण-पोषण करना चाहिए।—राजा की आज्ञा प्राप्त करके शूद्र द्वारा कोई धार्मिक कार्य किए जाने का विधान है। ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों द्वारा किए गए यज्ञ का फल शूद्र को उन सबका सेवा-कार्य करने के कारण प्राप्त हो जाता है—यह भी निर्देश है।[2]

शूद्र के लिए जहाँ आश्रम-व्यवस्था का प्रश्न है, उस सम्बन्ध में शान्ति पर्व में कहा गया है कि जो शूद्र तीनों वर्गों की सेवा से कृतार्थ हो गया है, शुद्धि और सदाचार

1. शान्ति॰ अ॰ 60, श्लो॰ 28-30 (भण्डारकर)
2. शान्ति॰ अ॰ 60, श्लोक 34,35,39,40 (भण्डारकर)

की दृष्टि से तीनों वर्णों की अपेक्षा जिसकी स्थिति में थोड़ा ही अन्तर रह गया हो तो राजा की अनुमति प्राप्त कर वह संन्यास के अतिरिक्त शेष तीन आश्रमों में से कोई भी ग्रहण कर सकता है तथा धर्म के धृति, क्षमा, दम, अस्तेय आदि अंगों का पालन करने वाला क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र भी भिक्षा माँग कर जीवन-यापन कर सकता है।[1]

इससे ज्ञात होता है कि सदाचारी, परोपकारी शूद्र की सद्गति महाभारत में मानी गई है, तथापि उसको द्विजातियों के तुल्य नहीं माना गया।

वर्णों के निर्माण की प्रक्रिया के विषय में बौद्ध वाङ्मय में उल्लेख है कि अपने-अपने समुचित कार्यों के कारण क्षत्रिय, ब्राह्मण एवं वैश्य बने। तदनन्तर उन्हीं प्राणियों में क्षुद्र आचार-व्यवहार वाले शूद्र बने।[2]

महाभारत में कर्म के आधार पर वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार करते हुए शूद्र के लिए भी अपने कर्त्तव्य-पालन पर बल दिया गया है, पर बौद्ध मत में शूद्र के कर्त्तव्य के सम्बन्ध में कुछ विशेष वर्णन उपलब्ध नहीं होता। महाभारतकार के अनुसार समाज में सब लोगों का स्थान अपने-अपने कार्य के अनुसार महत्त्वपूर्ण कहा गया है,[3] जबकि बौद्ध-मत में चारों वर्णों के वर्गीकरण पर बल नहीं दिया गया। शूद्र को भी परलोक सुधारने के लिए भिक्षु बनने की प्रेरणा दी गई है।

महात्मा बुद्ध ने जाति या जन्म से वर्णों की श्रेष्ठता नहीं मानी—ऐसा कहा जा सकता है। सिद्धान्ततः महाभारतकार ने भी इस स्थिति को स्वीकार किया, पर महाभारत में जन्म से जाति की वरीयता मानी जाने के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं। जैसे —कर्ण का सूतपुत्र होने के कारण धनुष प्रतियोगिता या स्वयम्वर के आयोजन से वंचित रहना, परशुराम द्वारा कर्ण के ब्राह्मण होने पर ही धनुर्वेद की शिक्षा देना एवं उसके क्षत्रिय होने की प्रतीति होने पर श्राप देना, तथा एकलव्य का क्षत्रिय न होने के कारण धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त न कर सकने के उदाहरण तत्कालीन सामाजिक विषमता के द्योतक कहे जा सकते हैं।

वैदिक वर्ण-व्यवस्था में वर्णों का उपर्युक्त वर्णीकरण होने पर भी यह कहना अनुचित न होगा कि पुरुष सूक्त में विराट् पुरुष से चारों वर्णों की उत्पत्ति का जो वर्णन किया गया है उसका महत्त्व यही है कि जिस प्रकार मनुष्य अपने पृथक्-पृथक् अंगों से जीवित नहीं रह सकता, वह अङ्गों के समष्टि रूप से ही कार्य करने पर जीवित रह

---

1. शान्ति० अ० 63, श्लो० 13, 14 (भण्डारकर)
   अनुशासनपर्व अ० 141, श्लो० 48-51
2. दीघ निकाय, ३ पाथिकवग्ग, 27 (4) अग्गम्मसुत्त
3. स्वधर्म निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः—गीता

सकता है उसी प्रकार चारों वर्ण या समाज के अंगों के सामूहिक रूप से मिल कर रहने पर ही समाज का अस्तित्व रह सकता है ।

आश्रम-व्यवस्था

समाज के व्यवस्थित विकास की दृष्टि से वैदिक विचारधारा में आश्रम-व्यवस्था की महत्ता मानी गई है। इसकी व्यवस्था चार आश्रमों में की गई—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। आयु एवं कर्त्तव्यों की दृष्टि से इन आश्रमों का क्रम इस प्रकार रखा गया—बाल्यावस्था में मनुष्य विद्याध्ययन करे, युवावस्था में गृहस्थी सम्भाले, वृद्धावस्था में गृहस्थी के झंझटों से निवृत्त होकर पहले वानप्रस्थी बने और अन्त में मोक्ष का इच्छुक होकर संन्यासी बने। महाभारत में आश्रम-व्यवस्था को स्वीकार किया गया है और इसमें विस्तार से पृथक्-पृथक् आश्रम का वर्णन उपलब्ध है। बौद्ध मत में आश्रम-व्यवस्था को नहीं माना गया है, अतः वहाँ जो कुछ वर्णन है वह विशेष सन्दर्भ में है।

ब्रह्मचर्य आश्रम

शान्ति पर्व में ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों का उल्लेख कुछ इस प्रकार है "ब्रह्मचारी वेदमन्त्रों का जप, चिन्तन एवं दोनों समय अग्निहोम करे। मन और इन्द्रियों को नियन्त्रित करके वेदों का स्वाध्याय करे—।[1] एक अन्य स्थान पर ब्रह्मचारी के लिए माता-पिता और गुरुजन ही तीनों लोक कहे गए हैं, उसके लिए ये ही तीनों आश्रम हैं और ये ही तीनों वेद हैं। यदि इन तीनों की सेवा में कोई त्रुटि न करेगा तो वह कीर्ति और उत्तम लोक प्राप्त कर सकता है।[2]

महाभारत में ब्रह्मचर्य-अवस्था विद्याध्ययन से सम्बन्धित कही गई है, उसे मानव की प्रगति के लिए प्रथम सोपान समझा गया है और ब्रह्मचर्य द्वारा उसकी सार्थकता वर्णित की गई है। वहाँ ब्रह्मचर्य के प्रथम चरण से ही गृहस्थ, वानप्रस्थ, और संन्यास की अवस्था प्राप्त हो सकती है।

बौद्ध मत में ब्रह्मचर्य सम्बन्धी उल्लेख है वह ब्रह्मचर्य-आश्रम के विषय में नहीं,

---

1. शान्तिपर्व, अ० 61, श्लोक 18-19 (भण्डारकर)
   देखिए आदिपर्व अ० 91, श्लो० 2; आश्वमेधिक० अ० 46, श्लो० 6
2. शान्तिपर्व अ० 191, श्लोक 8-9; अ०108 श्लो० 6,10,11 (सातवलेकर)

अपितु ब्रह्मचर्य के विषय में किया गया है। शान्ति पर्व में जहाँ ब्रह्मचारी के लिए प्रति दिन दोनों समय अग्निहोत्र का विधान किया गया है, वहाँ बौद्ध वाङ्मय में एक स्थान पर महात्मा बुद्ध का कथन है कि "लकड़ी जलाने से आत्मशुद्धि नहीं होती, इसको त्याग कर अन्दर की अध्यात्म ज्योति प्रज्ज्वलित करनी चाहिए। इसी कारण मैं अर्हत ब्रह्मचारी हूँ।"[1] ब्रह्मचर्य के विषय में एक अन्य स्थान पर उल्लेख है "राग ही कुपथ है, स्त्री ब्रह्मचर्य का मल है जिसमें सभी प्राणी फंस जाते हैं। तप और ब्रह्मचर्य बिना जल का स्नान है—झूठा ब्रह्मचर्य कभी अच्छा फल नहीं देता।"[2]

बौद्ध साहित्य के ब्रह्मचर्य सम्बन्धी इन विविध प्रसङ्गों से प्रतीत होता है कि महात्मा बुद्ध को ब्रह्मचर्य से जितेन्द्रिय एवं आचारवान् व्यक्ति अपेक्षित था। इस आश्रम के विषय में कुछ विशेष वर्णन उपलब्ध नहीं होता।

गृहस्थ-आश्रम

महाभारत में गृहस्थाश्रम को महत्त्व दिए जाने से वहाँ इस सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन किया गया है। जबकि बौद्ध मत में इस आश्रम को हेय माना गया है, अतः इसके विषय में कुछ विशेष वर्णन उपलब्ध नहीं होता।

शान्ति पर्व में कहा गया है कि मनुष्य धर्मपूर्वक विवाह कर पत्नी के साथ मिल-कर गृह-अग्नि की प्रतिष्ठा करे। 25 वर्ष की आयु से 50 वर्ष की आयु तक व्रत-नियमों का पालन करते हुए गृहस्थ की मर्यादा पालन करे।[3] एक स्थान पर गृहस्थाश्रम को सब धर्मों का आधार कहा गया है।[4] साथ ही गृहस्थाश्रम के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए इस पर्व में कहा गया है कि जिस प्रकार छोटी-बड़ी सब नदियाँ समुद्र का आश्रय लेती हैं, उसी प्रकार दूसरे सब आश्रम भी गृहस्थाश्रम के आधार पर ही अपना अस्तित्व सार्थक करते हैं।[5] इस प्रकार गृहस्थाश्रम को अन्य तीनों आश्रमों का आधार कहा गया

---

1. संयुत्त निकाय, खण्ड 1,7,1,9 (सुन्दरिक सुत्त)
   संयुत्त निकाय, खण्ड 7 अर्हत वर्ग, 1 धनंजानि सुत्त
2 संयुत्त निकाय, 1,8,6, नजीरति सुत्त, 2-1-8 तायन सुत्त
3. शान्ति० अ० 242, श्लो० 30, (सातवलेकर);
   अ० 234, श्लो० 29 (भण्डारकर)।
4. शान्ति० अ० 234, श्लो० 6 (सातवलेकर); अ० 226, श्लो० 6 (भण्डारकर)
   मनुस्मृति अ० 3, श्लो० 2,77,78
   याज्ञवल्क्य स्मृति अ० 1, श्लो० 52।
5. शान्ति० अ० 284, श्लो० 39 (भण्डारकर)

है, क्योंकि ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी एवं संन्यासी की जीविका का अवलम्ब यदि गृहस्थी होगा, तभी उनके कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न हो सकेंगे।

गृहस्थ की सद्गति के विषय में एक स्थान पर उल्लेख है कि यदि गृहस्थ मनुष्य वेदों का अध्ययन एवं वेदोक्त कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ धर्मपूर्वक गृहस्थ धर्म का पालन करता है तो वह इहलोक एवं परलोक में सुख प्राप्त करता है।[1] साथ ही गृहस्थी यदि चार प्रकार की वृत्तियों[2] से अपना जीवन व्यतीत करता है तो उसको चक्रधारी विष्णु के लोक के समान ऊंचे लोकों की प्राप्ति होती है। ब्रह्मा ने गृहस्थ जीवन स्वर्ग की प्राप्ति का कारण बताया है। अतिथि-सत्कार, यज्ञ, परोपकार आदि समस्त सामाजिक एवं धार्मिक कार्य गृहस्थाश्रम से ही पूर्ण हो सकते हैं—यह उल्लेख किया गया है।[3]

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि शान्ति पर्व के विभिन्न स्थानों पर गृहस्थाश्रम के महत्त्व पर विशद चर्चा की गई है। साथ ही वहाँ गृहस्थ में ममता और आसक्ति छोड़ने की सीख भी दी गई है। इस सम्बन्ध में एक स्थान पर निर्देश किया गया है कि "गृहस्थ-आश्रम में धर्म, अर्थ, काम—तीनों की प्राप्ति होती है अतः त्रिवर्ग साधन की इच्छा रखकर ही गृहस्थ को उत्तम कर्मों द्वारा धन-संग्रह करना चाहिए।"[4]

बौद्ध मत में गृहस्थाश्रम को कोई महत्त्व नहीं दिया गया, वहाँ स्थान-स्थान पर गृह-त्याग की ही चर्चा है। कहीं-कहीं सन्दर्भ में गृहस्थ के सम्बन्ध में उल्लेख है। एक स्थान पर पितृ ऋण, आचार्य ऋण, और देव ऋण—तीनों ऋणों को चुकाने का कथन है। इन तीन ऋणों से मुक्त होने का अर्थ सन्तान के रूप में माता-पिता और गृहस्थ के

---

1. शान्ति० अ० 61, श्लो० 14-16 (भण्डारकर)
2. (क) वृत्तियाँ—कोठे भर अनाज-संग्रह,
   (ख) कुण्ड भर अन्न का संग्रह,
   (ग) इतना अन्न संग्रह जो दूसरे दिन के लिए शेष न रहे,
   (घ) कापोती या उञ्छ वृत्ति—अन्न का एक-एक दाना चुनकर एकत्र करके जीवन-निर्वाह
   शान्ति० अ० 243, श्लो० 2 (सातवलेकर),
   अ० 235, श्लो० 2 (भण्डारकर)
3. शान्ति० अ० 243, श्लो० 25-28 (सातवलेकर), अ० 235, श्लो० 23-25 (भण्डारकर)
4. शान्ति० अ० 36, श्लो० 35; अ० 181, श्लो० 10; अ० 243, श्लो० 24 (सातवलेकर)

प्रति, शिष्य के रूप में आचार्य के प्रति तथा सामान्य प्रजाजन के रूप में जन-जन के प्रति कर्त्तव्यों को पूर्ण करने का संकेत किया गया है। इन तीनों ऋणों से मुक्ति के बिना धर्म-विनय में प्रव्रजन का अधिकारी नहीं समझा गया।[1] एक अन्य स्थान पर महात्मा बुद्ध ने तपस्सु और मल्लिक को कहा—"तुम्हारे लिए यही श्रेयस्कर है कि घर में रहकर तुम अप्रमाद का जीवन बिताओ।"[2] इस उद्धरण को बौद्ध मत का सिद्धान्त-वाक्य नहीं कहा जा सकता, अपवाद के रूप में ही यह कथन माना जाएगा।

यद्यपि महात्मा बुद्ध ने कुछ स्थानों पर गृह-विनय का उपदेश दिया है और गृहस्थ साधकों के लिए एक स्थान पर यदि वे सब प्रकार के पापों से मुक्त हों, स्वर्ग-प्राप्ति सम्भव कही है।[3] तथापि जहाँ चरम उद्देश्य की प्राप्ति का वर्णन है वहाँ उन्होंने स्पष्ट कहा कि ऐसा कोई भी आदमी उन्हें स्मरण नहीं आता, जिसने गृहस्थ होकर दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त की हो।[4]

प्रतीत होता है कि महात्मा बुद्ध की दृष्टि में गृहस्थ जीवन पूर्ण पवित्रता के लिए कुछ अनुपयुक्त था, इसीलिए उन्होंने विशेष साधन सम्पन्न राष्ट्रपाल और काश्यप जैसे व्यक्तियों को प्रव्रज्या के लिए उत्साहित किया था। शान्ति पर्व के अनुसार जितेन्द्रिय, त्यागी, परोपकारी व्यक्ति स्वर्ग प्राप्त कर सकता है, जनक जैसे गृहस्थी भी मोक्ष के अधिकारी हो सकते हैं, परन्तु बौद्ध विचारधारा में गृहस्थी की अपेक्षा भिक्षु को अधिक महत्त्व दिया गया।

वानप्रस्थ आश्रम

गृहस्थ के पारिवारिक एवं सामाजिक उत्तरदायित्वों को पूर्ण करने के पश्चात् व्यक्ति के लिए भोग से उपरामवृत्ति लेकर आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रवृत्त होने का विधान रहा है। शान्तिपर्व में इस प्रसङ्ग में आयु के तीसरे भाग में वन में जाकर वानप्रस्थ

---

1. बुद्धचरित 9-65
2. संयुत्त निकाय, 55,1,6 थपति सुत्त
3. दीघनिकाय 31-8 सिगालोवाद सुत्त
   अंगुत्तर निकाय 4,2,1 थपति सुत्त
4. मज्झिम निकाय 1-3-1।

का जीवन बिताने का उल्लेख किया गया है।[1]

शान्ति पर्व में इस आश्रम के विषय में विशद चर्चा की गई है। वानप्रस्थी के लिए सरल और सात्त्विक जीवन अभीष्ट कहा गया है। भिक्षा, यज्ञ, स्वाध्याय और व्रत आदि की मर्यादा पालन करना आवश्यक कहा गया है। ब्रह्मचारी के समान ही वानप्रस्थी को संयमित जीवन बिताना चाहिए। भिक्षा और भोजन उसके सुख के लिए नहीं, अपितु शरीर-निर्वाह के लिए आवश्यक हैं। शान्ति पर्व में एक स्थान पर उल्लेख है कि "वानप्रस्थी लौकिक सुखों से उपरत होकर, इन्द्रियों को वश में करके सर्वदा धर्म-पालन में तत्पर रहे। इस प्रकार धर्म के फल का वे प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं—।[2]

इससे स्पष्ट होता है कि महाभारत में वानप्रस्थ आश्रम का आयु एवं आचरण की दृष्टि से महत्त्व स्वीकार किया गया है। महात्मा बुद्ध ने वानप्रस्थ को स्वीकार नहीं किया। भिक्षु होने पर भी वन में रहने का समर्थन करने की अपेक्षा नगर के पास ही संघारामों में रहने पर बल दिया है, जिससे उन्हें भिक्षा मिलने में सुविधा हो। बौद्ध वाङ्मय में, जहां कहीं वानप्रस्थ का उल्लेख मिलता है, वह भिक्षु होने के सन्दर्भ में ही है। एक स्थान पर उल्लेख है कि "भिक्षु को यह विचार कर कि उसने चीवर, भिक्षान्न आदि सामग्रियों के लिए नहीं, बल्कि साधना के लिए वानप्रस्थ का जीवन अपनाया है। फलतः उसको आयु पर्यन्त वानप्रस्थ का जीवन बिताना चाहिए।"[3]

बौद्ध ग्रन्थ संयुत्त निकाय में एक स्थान पर उल्लेख है कि कौशल के वन में विहार करते हुए एक भिक्षु का मन सांसारिक तर्क-वितर्कों में फंसा हुआ था। उसको वनदेवता ने कहा—'तुम विवेक की कामना से वन में बैठे हुए हो, परन्तु तुम्हारा मन स्थिर नहीं है। जिस प्रकार पक्षी धूल पड़ने पर अपने पंख फड़फड़ा कर धूल झाड़ देता है उसी प्रकार साधनाशील भिक्षु को अपने मन का राग झाड़ देना चाहिए। साथ ही श्रद्धा से वनवासी बनने के कारण भिक्षु को अपनी श्रद्धा जगाकर निर्वाण की आकाङ्क्षा मन में उत्पन्न करनी चाहिए।[4] बौद्ध मतानुसार वानप्रस्थी को सांसारिक जीवन के

---

1. शान्ति० अ० 244, श्लो० 4,5 (सातवलेकर);
   अ० 236 श्लो० 4,5 (भण्डारकर)
   देखिए मनु० अ० 6, श्लो० 3, 4।
   याज्ञवल्क्य अ० 3, श्लो० 45।
2. शान्ति० अ० 244, श्लो० 6,8,9 (सातवलेकर);
   अ० 236, श्लो०, 68, 9 (भण्डारकर)
3. मज्झिम निकाय, 17 वनपत्थ सुत्त, 1,2,7।
4. शान्ति० अ० 245, श्लोक 7 (सातवलेकर); अ० 237, श्लो० 7 (भण्डारकर)

क्षणभंगुर आनन्द से हटकर स्वाध्याय में संलग्न रहते हुए बुद्ध धर्म और संघ में आस्था रखनी चाहिए।

शान्ति पर्व में जहाँ वानप्रस्थी के लिए अतिथिपूजा, यज्ञ एवं आचारपूर्ण संयमी जीवन पर बल देते हुए वानप्रस्थ जीवन की महत्ता स्वीकार की गई है, वहाँ बौद्ध मत में वानप्रस्थ को कोई महत्त्व नहीं दिया गया। भिक्षु के लिए ध्यानावस्थित होने का निर्देश है, उसके लिए यद्यपि एकान्त आवश्यक है तथापि वहाँ भी वन-गमन के लिए प्रेरणा नहीं है अपितु संघाराम में जाकर रहने का कथन है।

संन्यास आश्रम

तीनों आश्रमों के कर्त्तव्यों को पूर्ण कर अग्निहोत्र, धन, स्त्री एवं सम्पूर्ण पदार्थों का त्याग कर इस आश्रम में प्रवेश किया जाता है। वे ही व्यक्ति इस आश्रम के लिए उपयुक्त कहे गए हैं जिनकी प्रवृत्ति अध्यात्म की ओर होती है। संन्यासी के लिए सब प्रकार के वस्त्रों का त्याग भी उचित कहा गया है, उसके लिए मृगचर्म या वल्कल से शरीर के आच्छादन का विधान दिया गया है। शान्ति पर्व में— भिक्षा-पात्र रखना, वृक्षमूल का आश्रय लेना, अशोभन वस्त्र धारण करना, सब प्राणियों से दूर रहना—ये सब संन्यासी के लक्षण कहे गए हैं।[1]

सच्चे संन्यासी सुवर्ण, पत्थर और मिट्टी को एक समान समझते हैं। सबके प्रति समान दृष्टि रखते हैं। वे स्थायी निवास बनाकर नहीं रहते, सदा भ्रमण करते रहते हैं इसीलिए वे परिव्राजक कहलाते हैं। इस प्रसङ्ग में शान्ति पर्व में उल्लेख है कि "संन्यासियों को चलते-चलते जहाँ भी रात हो जाए, वहीं पड़ाव डाल देना चाहिए। जीवन-धारण के लिए किसी भी सात्त्विक गृहस्थी के घर से जो कुछ भी मिल जाए, उसी से उदर-पोषण करना चाहिए—।"[2]

संन्यास-आश्रम में प्रवेश करते हुए यज्ञ में अपने सर्वस्व का त्याग करना उचित है। इसमें व्यक्ति सब व्रत-नियमों से मुक्ति पा लेता है। संन्यासी को आत्मा का ही यज्ञ करना चाहिए, इसी में क्रीड़ा करनी चाहिए। आत्मा में ही समस्त अग्नियों को आरोपित कर सम्पूर्ण संग्रह-परिग्रह का त्याग कर देना चाहिए।[3] इस प्रकार शान्ति पर्व में संन्यासी के लक्षण एवं कर्त्तव्य बताते हुए संन्यास-धर्म के विषय में कहा गया है कि

---

1. शान्ति० अ० 245, श्लो०7 (सातवलेकर); अ० 237, श्लो० 7 (भण्डारकर)
2. शान्ति० अ० 185, श्लोक 3 (भण्डारकर)
3. शान्ति० अ० 244, श्लो० 22-24 (सातवलेकर)

"जहाँ सन्तोष ही संन्यासी के सुख का मूल, त्याग ही जिसका स्वरूप, ज्ञान की अधिष्ठात्री ब्रह्मदात्री बुद्धि ही जिसका एकमात्र अवलम्ब है वह संन्यास-धर्म जीवन-सन्देश है।"[1] एक अन्य स्थान पर निर्देश दिया गया है कि संन्यासी सिद्धि प्राप्त करने के लिए अकेला ही संन्यास-धर्म का पालन करे।[2]

शान्तिपर्व में स्थान-स्थान पर संन्यासी के एकान्तवास का उल्लेख होने से उसके ध्यानावस्थित होने का आशय प्रतीत होता है, क्योंकि ध्यान की स्थिति एकान्त में ही हो सकती है।

इसी पर्व में संन्यास के फल का संकेत करते हुए कहा गया है कि जो सब प्राणियों को अभयदान देकर गृह-त्याग कर देता है उसके लिए अनन्त तेज-लोकों की सृष्टि होती है। मोक्ष की इच्छा रखने वाला व्यक्ति सदाचार, सन्नीति और शान्ति द्वारा अपने सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रवृत्त हो सकता है।

बौद्ध वाङ्मय में संन्यासी के लिए जो कुछ वर्णन उपलब्ध होता है वह भिक्षु के नाम से है। गृह-त्याग आदि के सब उपदेश भिक्षु के नाम से ही दिए गए हैं। भिक्षु की जो जीवन-चर्या कही गई है वह संन्यासी के ही समान है। महात्मा बुद्ध ने भिक्षु का आदर्श एक मुक्ति गवेषक साधक के रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा—"भिक्षुओ ध्यान करो"।[3] एक अन्य स्थान पर शून्यागारों में जाकर ध्यान की वृद्धि करने का निर्देश दिया गया है।[4]

प्रारम्भिक बौद्ध साधना में एकान्त साधना को बहुत महत्त्व दिया गया। महात्मा बुद्ध का कथन है—"भिक्षुओ, जितने भी मानुष और दिव्य-बन्धन हैं मैं उन सबसे मुक्त हूँ। तुम सब भी उन सब बन्धनों से मुक्त हो जाओ।" उनके मन्तव्य के अनुसार भिक्षु होकर इस प्राणिदेह के आवागमन से मुक्ति सम्भव है।

मज्झिम निकाय में एक स्थान पर हिंसा, दुराचार, लोभ आदि दुर्गुणों से मुक्त हुए भिक्षु के लिए कहा गया है कि ऐसे भिक्षु की तृष्णा नष्ट हो जाती है, उसका मूल उच्छिन्न हो जाता है। भविष्य में उसके उत्पन्न होने की सम्भावना भी नहीं रहती। इसी प्रसङ्ग में महातमा बुद्ध ने कहा—"पाँच सौ से भी अधिक श्रावक भिक्षु आस्रव-

---

1. शान्ति० अ० 270, श्लो० 3। (सातवलेकर); अ० 262, श्लोक 28, 29 (भण्डारकर)
2. शान्ति० अ० 245, श्लोक 4,9 (सातवलेकर)
3. धम्मपद 25, 12
4. मज्झिम, पटिसल्लानसुत्त, इतिवुत्तक 2,2,8।

विहीन होकर चित्त विमुक्ति और प्रज्ञाविमुक्ति को इसी जन्म में जानकर साक्षात्कार कर विहार करते हैं।"[1]

शान्ति पर्व में एक स्थान पर स्थायी रूप से न रहकर इधर-उधर घूमने के कारण संन्यासी का परिव्राजक नाम कहा गया है, उसी प्रकार बौद्ध मत में भिक्षु के चित्तविमुक्त होकर घूमने का वर्णन किया गया है।

शान्ति पर्व और बौद्ध मत में संन्यासी और भिक्षु के संसार से विरक्त होने की दृष्टि से समानता के साथ-साथ कुछ भिन्नता भी कही जा सकती है। शान्ति पर्व में जहाँ संन्यासी के लिए एकान्तवास का उल्लेख है, वहाँ बौद्धमत में संन्यासी तुल्य भिक्षुओं के लिए महात्मा बुद्ध ने यद्यपि प्रारम्भ में पर्वत-कन्दरा, वृक्षमूल अथवा नदी-तट पर साधना की महत्ता स्वीकार की, किन्तु परवर्त्तीकाल में उन्होंने भिक्षुओं को सामूहिक मठों व संघारामों में रहने का निर्देश दिया। महाभारत में संन्यासी के लिए कहीं स्थायी रहने का उल्लेख नहीं है जब कि बौद्ध मत में भिक्षु के लिए एक स्थान पर चातुर्मास तक रहने का विधान है। साथ ही महाभारत में संन्यासी के लिए **आत्मवत् सर्वभूतेषु पश्येत्** का उपदेश देते हुए आत्म-साक्षात्कार ही मुक्ति कही गई है। जब कि बौद्ध मत में भिक्षु के लिए दुःखमयता एवं शून्यता को जानना तथा अनात्म दृष्टि की परिपक्वता एवं जीवन्मुक्ति ही मुक्ति कही गई है।

1. मज्झिम, 73 महावच्छगोत्र सुत्त 2;3,3।

अध्याय चार

राजधर्म

सामान्यतया पश्चिमी इतिहासकारों की मान्यता है कि प्राचीन भारतीय स्वस्थ राजनीति और राष्ट्रधर्म से अपरिचित थे, परन्तु महाभारत के शान्ति पर्व के राजधर्म विषयक प्रकरण का अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि प्राचीन भारतीय राजनीति-शास्त्र से भली प्रकार परिचित थे। ऐसी सम्भावना है कि महाभारत, रामायण, मनु और कौटिल्य के विचारों में स्वीकृत राजनीतिक मान्यताएं बहुत पहले जनता में विचार-बद्ध हो चुकी थीं।[1] बहुसंख्यक भारतीय लेखकों—जिनमें महाभारतकार भी सम्मिलित हैं—की मान्यता है कि प्राचीनभारत में मर्यादित राजतन्त्र का सिद्धान्त मान्य था। प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र में राजधर्म शब्द का व्यापक प्रयोग किया गया है।

सर हेनरी मैन ने प्राचीन संस्कृतियों की संस्थाओं का विवरण देते हुए स्वीकार किया है कि अत्यन्त प्राचीन काल के भारत, असीरियन, बेबीलोनियन, मीडिया तथा फारस वासियों के साम्राज्य मुख्यतया करसंग्रह करने वाली व्यवस्थाएँ थीं।[2]

शान्ति पर्व में एक स्थान पर उल्लेख है कि "प्रारम्भ के कृतयुग में न तो राजा था, न दण्ड की व्यवस्था थी। समय के साथ-साथ मनुष्यों में काम, लोभ और मोह ने प्रवेश कर लिया। धर्म का विनाश न होने देने के लिए ब्रह्मा ने धर्म, अर्थ, काम पर एक

1. सप्ताङ्ग—शासक, अमात्य, जानपद, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, मित्र
   6 नीतियाँ—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव, आश्रय
   3 शक्तियाँ—प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति, उत्साह शक्ति
   4 उपाय—साम, दान, दण्ड, भेद। अष्ट वर्ग, पंच वर्ग, मनु० 7,155
   महा० भा० सभापर्व—18 एवं 15 तीर्थ
2. अर्ली हिस्ट्री आफ इन्स्टीट्यूशन्स, 1875, पृ० 384-390

लाख अध्यायों का ग्रन्थ लिखा। इन्द्र ने उसको 5000 अध्यायों में संक्षिप्त किया, वह ग्रन्थ बाहुदत्तक कहलाया। बृहस्पति ने उसको 3000 अध्यायों में संक्षिप्त किया, उसका नाम बार्हस्पत्य हुआ। अन्त में शुक ने 1000 अध्यायों में सीमित कर लिखा।"[1] कामसूत्र में भी इसी प्रकार की कहानी का उल्लेख है। ब्रह्मा के द्वारा ग्रन्थ लिखे जाने के उल्लेख से प्रतीत होता है कि भारत में राजधर्म की चर्चा बहुत प्राचीन काल से है।

शान्तिपर्व में अध्याय 56 से 128 (भण्डारकर) तक तथा कुछ सीमा तक 129 से 167 अध्याय (भण्डारकर) तक राजधर्म की व्याख्या की गई है। इसी पर्व में राजशास्त्र के प्रणेताओं में बृहस्पति, भारद्वाज, गौरशिरा, विशालाक्ष, मनु, प्राचेतस आदि का उल्लेख मिलता है।[2] इसमें राजधर्म के विवरण से ज्ञात होता है कि इनके ग्रन्थों के लेखन के समय राजधर्म का यह शास्त्र पूर्णतया व्यवस्थित हो चुका था।

राजधर्म पर संस्कृत साहित्य में व्यापक चर्चा उपलब्ध है। आपस्तम्ब के धर्मसूत्र जैसे प्राचीन ग्रन्थों के अतिरिक्त महाभारत के वनपर्व (150), सभापर्व (5), उद्योग पर्व (33-34), आश्रम-वासिक (5-7), तथा शान्तिपर्व के अवान्तर पर्व राजधर्मपर्व (अ०1-130) में इसी विषय का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त वाल्मीकि रामायण अयोध्या काण्ड (15, 67, 100), युद्धकाण्ड (17, 18, 63) तथा मनुस्मृति (7-9) में राजधर्म का वर्णन है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र राजधर्म पर एक प्रमुख ग्रन्थ है। याज्ञवल्क्य (304, 367), बृहद् हारीत स्मृति (अ०7, पृष्ठ 277-285), विष्णु धर्मसूत्र 111, कामन्दक का नीतिसार, अग्निपुराण (अ०218-242), गरुड पुराण (108-115), मत्स्य (215-243) विष्णुधर्मोत्तर (11), मार्कण्डेय (24), कालिका (87), नीतिप्रकाशिका(जीवानन्द संस्करण 1890), सोमेश्वर के अभिलषितार्थचिन्तामणि या मानसोल्लास (प्रथम चार विंशतियां), भोज के मुक्तिकल्पतरु सोमदेव के नीतिवाक्यामृत (959 ई०), बार्हस्पत्य सूत्र, लक्ष्मीधर के कृत्यकल्पतरु का राजनीतिकाण्ड, चण्डेश्वर का राजनीतिरत्नाकर, मित्रमिश्र का राजनीतिप्रकाश, नीलकण्ठ का नीतिमयूख, अनन्तदेव का राजधर्म-कौस्तुभ, राजकुमार शम्भाजी के बुधभूषण (1685-1780 ई०-प्राध्यापक एच० डी० वेलङ्कर संस्करण), केशवपाण्डे का दण्ड नीति-सम्पादक (वी०एस० बेन्द्रे-पूना 1943) आदि राजधर्म के प्रमुख ग्रन्थ हुए हैं।

महाभारत में राजधर्म और राजनीति का विशेष वर्णन इसलिए है क्योंकि महाभारत की मुख्य कथा में राजाओं की वंशावली के वर्णन के साथ युद्ध का उल्लेख विस्तार से है। फलतः राजधर्म की विशद चर्चा का होना स्वाभाविक है। शान्तिपर्व में युधिष्ठिर को राज्य स्वीकार करने के लिए ही भीष्म पितामह द्वारा उपदेश दिया गया।

---

1. शान्ति०अ०59, श्लो०29, 82-85 (सातवलेकर);
   अ०59,श्लो०29,88,91 (भण्डारकर)
2. शान्ति०अ०58, श्लो०1-3 (भण्डारकर)

अतः राजधर्म एवं राजनीति सम्बन्धी सम्पूर्ण प्रकरण का महाभारत में विशेष स्थान है ।

प्रजापालन एवं न्याय-परिपालन- जो कि राजा के परम कर्त्तव्य कहे गए हैं-के लिए आवश्यक है कि शासक न्यायतुला व शासन-दण्ड का उचित प्रयोग करे। वह आन्तरिक व्यवस्था एवं राष्ट्र को बाह्य आक्रमण से संरक्षित करने के लिए राष्ट्रशक्ति के रूप में सैन्यबल का उचित प्रयोग करे। शान्तिपर्व में कहा गया है- "राजा हजार नेत्रों वाले इन्द्र के तुल्य है क्योंकि वह अपने सहस्रों गुप्तचरों से प्रजा के सुख-दुःख एवं गुण-दोषों की वास्तविक स्थिति का ठीक मूल्याङ्कन कर लेता है। वह शासक जिस धर्म को भली प्रकार समझ कर निश्चय कर लेता है वही श्रेष्ठ धर्म स्वीकार किया जाता है।"[1]

भीष्म पितामह ने राजधर्म की श्रेष्ठता बताते हुए कहा—"यदि दण्डनीति नष्ट हो जाए तो तीनों वेद रसातल को चले जाएँगे, तीनों वेदों के नष्ट होने से समाज में प्रचलित सारे धर्म नष्ट हो जाएँगे,। पुरातन राजधर्म के (जिसे क्षात्र धर्म भी कहा जाता है) लुप्त होने पर भी समाज में प्रचलित सारे धर्म नष्ट हो जाते हैं।"[2]

मज्झिम निकाय में उल्लेख है—"सुख से सुख प्राप्य नहीं है, दुःख से सुख प्राप्य है। यदि सुख से सुख प्राप्य होता तो राजा मागध श्रेणिक बिम्बसार सुख प्राप्त करता—।"[3] बौद्ध मतानुसार एक राजा जो राज्य के उत्तरदायित्व के कारण हर समय उद्विग्न चिन्ताकुल रहता है उसकी तुलना में एक भिक्षु, जो सब चिन्ताओं से मुक्त है, सुखपूर्वक जीवन-यापन करता है।

राज-धर्म के विषय में शान्तिपर्व में एक अन्य स्थल में कहा गया है—"राजधर्म में सब त्यागों का दर्शन होता है, इसी में सारी दीक्षाओं का प्रतिपादन हो जाता है तथा सम्पूर्ण लोकों का समावेश हो जाता है।"[4] इससे प्रतीत होता है कि महाभारतकार ने राजधर्म को बहुत महत्त्व दिया है। महाभारतकार की उक्ति के अनुसार राज-धर्म सर्वोत्तम धर्म कहा जा सकता है, किन्तु बौद्ध मत को यह बात मान्य नहीं हो सकती।

समाज की स्थिरता तथा व्यवस्थित विकास एवं राष्ट्र के प्रजाजनों की सुख शान्ति के लिए शासकों द्वारा अपने कर्त्तव्यों तथा दायित्वों के परिपालन को सर्वाधिक महत्ता दी गई है। इसीलिए "राजधर्म को सब धर्मों का मूल कहा गया है।" शान्ति पर्व में एक स्थान पर स्पष्ट उल्लेख है—"हमें यह जान लेना चाहिए कि सभी धर्म राजधर्म में सन्निहित हैं, यही सब धर्मों में प्रमुख है।"[5] "जनता का कल्याण, रोग संकट

1. शान्ति०अ० 91 श्लो० 45 (सातव०सं०) अ०92, श्लोक41 (भण्डारकर सं०)
2. शान्ति०अ०63, श्लो०28, 29 (भण्डारकर)
3. मज्झिमनिकाय, 1 मूल पण्णासक 4 चूल दुक्खस्कन्ध पृष्ठ 61
4. शान्ति०अ०63, श्लो० 29 (भण्डारकर)
5. शान्ति०अ०63 श्लो०25 (भण्डारकर सं०)
   शान्ति०अ०141, श्लो०9, 10 (सातव०सं०) अ०139, श्लो०9-10 (भण्डारकर)

एवं मृत्यु का। मूल राजा में निहित होता है—जैसे क्षुद्र प्राणियों के पैरों के चिह्न, हाथी के पैर के चिह्नों में लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार भांति-भांति के धर्म राजधर्म में लीन समझने चाहिएँ।—सब विधाएं राजधर्म से ही विस्तार पाती हैं, सब लोक राजधर्म में ही केन्द्रित होते हैं।"[1]

युधिष्ठिर के द्वारा अजेय राष्ट्र के विषय में पूछे जाने पर भीष्म ने उत्तर दिया—"जिस राष्ट्र के विभिन्न वर्ण सहयोगी होते हैं, एक रस्सी के सहयोगी धागों की तरह एक प्राण होते हैं—ऐसे पुरुषार्थियों के राष्ट्र को कोई जीत नहीं सकता, क्योंकि स्वावलम्बन का पराक्रम अजेय होता है। इसी प्रकार जिस राष्ट्र की प्रजा राष्ट्ररक्षा के लिए सर्वस्व होम देने को कटिबद्ध रहती हो, उस राष्ट्र को कोई पराजित नहीं कर सकता, क्योंकि बलिदान का पराक्रम अजेय होता है।"[2]

बौद्ध साहित्य में भी राज्य की सुदृढ़ता के लिए प्रजाजनों में संगठन एवं पुरुषार्थ पूर्ण सहयोग का उदाहरण उपलब्ध होता है।" एक बार मगध का राजा अजातशत्रु लिच्छवियों के वज्जिसंघ को पराजित करना चाहता था, समृद्ध वज्जि गणराज्य से सीधा संघर्ष कठिन था। फलतः उसने अपने महामात्य वर्षकार को महात्मा बुद्ध से यह पूछने के लिए भेजा कि वज्जिसंघ का उच्छेद कैसे सम्भव है? महामात्य के पूछने पर महात्मा बुद्ध ने बताया कि जब तक वज्जिगण पारस्परिक सम्मति प्राप्त करने के लिए, बैठक करते रहेंगे, संयुक्त होकर करणीय कर्त्तव्य करेंगे, अपने पूज्य वृद्धों एवं गुरुओं के सत्परामर्श पर कार्य करेंगे, तब तक वज्जिगण का किसी तरह का अनिष्ट नहीं होगा, बल्कि समृद्धि होगी। अजातशत्रु को उसके महामात्य ने सूचित किया कि गौतम बुद्ध के कथनानुसार संगठित वज्जिसंघ को किसी भी प्रकार पराजित नहीं किया जा सकता। तब अजातशत्रु के कहने पर वर्षकार ने कुछ ही वर्षों के प्रयत्न से लिच्छवियों में आपसी मतभेद पैदा कर दिया। वर्षकार की सूचना पर जब अजातशत्रु ने वज्जिसंघ पर आक्रमण किया तो उसे रोकने के लिए कोई भी सम्मुख नहीं आया।"[3]

बौद्ध साहित्य के इस प्रसंग से स्पष्ट प्रतीत होता है कि महात्मा बुद्ध ने भी राजनीति के इस मूल तत्त्व को स्वीकार किया है कि किसी राज्य की स्थिरता एवं सुरक्षा उसकी एकता एवं पुरुषार्थ पर अवलम्बित है।

महाभारत में राजा के महत्त्व पर बल देते हुए एक स्थान पर उसे युग का कारण कहा गया है, साथ ही राजा को काल का भी कारण कहा गया है।[4]

---

1. शा०अ०63 श्लो०251,29 (सातवलेकर)
2. शा०अ०60 श्लो०2-3(भण्डारकर सं०), अ०67, श्लोक 2-3 (भण्डारकर)
3. दीघनिकाय, 2 महावग्ग, 16(3) महापरिनिब्बाण सुत्त
   (1) वज्जियों के विरुद्ध अजातशत्रु
   (2) हानि से बचने के उपाय
4. शान्ति० अ० 69 श्लो० 79 (सातवलेकर सं०), अ० 70, श्लोक6 (भण्डारकरसं०)

राजत्व के मूल का सिद्धान्त

शान्तिपर्व में दो स्थानों पर अध्याय 59 और 67 (भण्डारकर) में राजत्व के मूल के सिद्धान्त की चर्चा की गई है। 59 अ० के वर्णन के अनुसार महाराजा युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा—"किस प्रकार राजा की उपाधि शुरू हुई और दूसरे पुरुषों के समान शारीरिक और मानसिक क्षमता रखने के बावजूद एक व्यक्ति किस प्रकार दूसरों पर शासन करता है? भीष्म ने उत्तर दिया—प्रारम्भ में कृतयुग में पूर्णता की स्थिति थी, उस समय न राजा था, न राज्य था न दण्ड था।[1] धीरे-धीरे मोह बढ़ता गया, उसके पश्चात् राज-परम्परा का प्रारम्भ हुआ। 67 अ० में कहा गया है कि एक राज्य के लिए सर्वथा वांछनीय यह है कि एक राजा को मूर्द्धाभिषिक्त किया जाए, क्योंकि शासनहीन राष्ट्र में न धर्म होता है न जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा।[2] फलत: देवताओं ने जन-संरक्षण के लिए राजा की नियुक्ति। की प्रजा के रंजनके कारण राजा शब्द प्रचलित हुआ। अध्याय 59 तथा 67 के विवरणों में कुछ अन्तर है। अ० 59 में सतयुग का वर्णन है तो अ० 67 में जो कुछ कहा गया है वह सतयुग के सन्दर्भ में नहीं है। वैसे दोनों स्थलों पर देवताओं के द्वारा प्रजा को राजा सौंपने का वर्णन है, तथा राजसंस्था के दैवी मूल और राजा के दैवी अधिकार का उल्लेख है। इसी के साथ राजसंस्था की आवश्यकता जीवन, स्वाधीनता और सम्पत्ति के संरक्षण के लिए अनिवार्य कही गई है। दण्ड के भय, राजा-प्रजा के मध्य अनुबन्ध की व्यवस्था, राजा और प्रजा की अन्योन्याश्रितता आदि बातों पर बल दिया गया है।

बौद्ध साहित्य के ग्रन्थ दीघनिकाय में राजा की उत्पत्ति के विषय में जैसा कि क्षत्रिय के प्रकरण में संकेत किया गया है निम्न प्रकार का वर्णन उपलब्ध है—"पहले सब लोग मनोमय थे, बहुत दिनों तक जीवित रहते थे। बहुत समय बीतने के पश्चात् लोगों में अधर्म एवं पाप के प्रादुर्भूत होने से जब चोरी, मिथ्याभाषण आदि दुष्कर्म होने लगे तब सब प्राणियों ने अपने में से एक शक्तिशाली व्यक्ति को चुना। उसे सबका अनुशासन करने तथा उचित-अनुचित का भेद प्रतिपादित करने का अधिकार दिया। तथा सबने उसे अपने शालि में से एक भाग देने का निर्णय किया। उस व्यक्ति ने यह निर्णय स्वीकार किया, तथा वह उचित-अनुचित का ठीक तरह से अनुशासन करने लगा। महाजनों द्वारा सम्मत होने से उसे 'महासम्मत' कहा गया, क्षेत्रों का अधिपति होने से वह **'क्षत्रिय'** कहलाया और धर्म से सबका रंजन करता था इसलिए वह 'राजा'

---

1. शान्तिपर्व, अध्याय 59, श्लोक 13-15 (भण्डारकर)
2. शान्तिपर्व, अध्याय 67, श्लोक 2-3 (भण्डारकर सं०)

कहलाया।"[1]

यह उल्लेखनीय है कि दोनों ही स्थानों पर प्रजा के रंजन के कारण "**राजा**" शब्द के व्यवहार पर बल दिया गया है। महाभारत में ब्राह्मणों का क्षत से परित्राण करने के कारण "**क्षत्रिय**" संज्ञा का व्यवहार चलने लगा।[2] जब कि बौद्ध मत में क्षेत्रों का अधिपति "**क्षत्रिय**' कहा गया— यहां दोनों में भेद कहा जा सकता है।

इस प्रकार महाभारत एवं बौद्ध साहित्य दोनों में ही राजा की संस्था के मूल के विषय में विचार उपलब्ध होते हैं। राष्ट्र को व्यवस्था के अन्दर रखने के लिए राजा की आवश्यकता हुई—यह सिद्धान्त दोनों विचारधाराओं का मूल कहा जा सकता है। बौद्ध मत में प्रजाजनों द्वारा राजा के चुने जाने का कथन है जब कि महाभारत में देवताओं द्वारा राजा की नियुक्ति किए जाने से वहां उसकी दैवी उत्पत्ति कही गई है।

शान्तिपर्व में राजा या शासक के लिए धर्म का आचरण करने की प्रेरणा दी गई है। धर्म का आचरण न करने वाले शासक का धर्म, अर्थ, पुरुषार्थ साथ छोड़ देते हैं तथा उसकी शक्ति भी क्षीण हो जाती है। एक स्थान पर उल्लेख है—"राजा का यह पुनीत कर्त्तव्य है कि वह प्रजा को अपने-अपने धर्म में स्थापित करे, जिससे वह धर्म के अनुकूल अपने समस्त उत्तरदायित्वों को वहन कर सके। धर्मानुकूल शासन करने वाला ही दीर्घकाल तक पृथिवी का शासक बना रह सकता है। क्योंकि सम्पूर्ण प्राणी धर्म के आधार पर प्रतिष्ठित हैं और राजा के ऊपर धर्म की स्थिति है।[3]

शान्ति पर्व में विभिन्न स्थलों पर राजा के द्वारा धर्मपालन पर बल दिया गया प्रतीत-होता है। एक स्थान पर उल्लेख है—"धर्म के अनुकूल कार्य करते हुए राजा को प्रजाजनों का पालन करना चाहिए। धर्मानुकूल कार्य करने वाला शासक कभी कोई अनुचित कार्य नहीं करेगा, उसे कभी पश्चात्ताप भी न होगा। प्रजाजनों की रक्षा तथा उनके प्रति दया ही शासक का महान् धर्म है। राजा के लिए सबसे बड़ा धर्मोपदेश यही है कि वह सदा विद्वानों ब्राह्मणों के सत्परामर्श पर चलते हुए उनकी सेवा करे।"[4]

संयुत्तनिकाय में राजा के द्वारा धर्माचरण किए जाने पर बल दिया गया है। एक बार श्रावस्ती में कौशलराज 'प्रसेनजित् को महात्मा बुद्ध ने कहा—"जो मन-वचन-

---

1. दीघनिकाय, 27 अगत्र सुत्त, (क) वैयक्तिक सम्पत्ति का प्रारम्भ
   (ख) चारों वर्णों का निर्माण
2. "ब्राह्मणानां क्षतत्राणात् ततः क्षत्रिय उच्यते" शान्ति० अ० 59,श्लो० 126 (सातवलेकर); अ० 59 श्लो० 128 (भण्डारकर)
3. शान्ति० अ० 9 श्लो०5, अ० 21 श्लो०18, 19, अ०71 श्लो० 26
   शान्ति० अ० 60 श्लो०, 19अ० 91 श्लो० 36, अ०92 श्लो० 7।
4. शान्ति० अ० 71, श्लो० 26-28 (सातवलेकर); अ० 72, श्लो० 26-28 (भण्डारकर) आदिपर्व अ० 206, श्लो० 51, 52।

कर्म से धर्माचरण करता है संसार में उसकी प्रशंसा होती है, मर कर स्वर्ग में आनन्द करता है।"[1] एक अन्य स्थान पर उल्लेख है—"एक बार देवासुरसंग्राम में देवों की हार हो गई थी। असुरों ने देवों का पीछा किया, रथ में भागते हुए देवराज इन्द्र को शंका हुई कि उसके रथ के धुरे से रास्ते में सेमर वृक्ष में पक्षियों के घोंसले कहीं टूट न जाएँ। असुरों के हाथ में पड़ कर चाहे प्राण चले जाएँ, पर इन पक्षियों का अनिष्ट न हो। ऐसा सोच कर उसने अपने सारथी को रथ वापस लौटाने को कहा। देवराज को फिर वापस आते देख कर पीछा करते हुए असुरों को यह सन्देह हुआ कि देव असुरों से फिर युद्ध करना चाहते हैं। फलतः वे भयभीत होकर असुरपुर में भाग गए। इस प्रकार देवराज इन्द्र की (प्राणियों के प्रति दयायुक्त) धर्म की भावना के कारण विजय हुई।"[2]

महाभारत में धर्माचरण के प्रसङ्ग में वर्णाश्रम-व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक को अपने-अपने धर्म में स्थिर रहने की प्रेरणा दी गई है। जब कि बौद्ध मत में धर्माचरण में "दया धर्म का मूल है" इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।

बौद्ध वाङ्मय की जातक कथा "राजोवाद जातक" में धर्मानुसार राज्य करने वाले राजा की महत्ता कही गई है। एक बार वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त अपनी न्यूनता तथा दोष ढूंढ़ने के लिए कई नगरों में गए, पर उसके दोष कहने वाला कोई न मिला। अन्त में हिमालय प्रदेश में बोधिसत्त्व के पास पहुंचे। बोधिसत्त्व ने कुशलक्षेम पूछने के बाद जंगल में पके मीठे गोदे (विशेष फल) खाने को कहा। राजा ने गोदे खाकर कहा—क्या कारण है ये फल बहुत मीठे हैं? बोधिसत्त्व ने उत्तर दिया—राजा निश्चय ही धर्मानुसार न्यायपूर्वक राज्य करता है उसी से ये फल मीठे हैं। राजा के अधार्मिक होते ही मधु; शक्कर और जंगल के फल-मूल 'अमधुर' हो जाते हैं। केवल ये ही नहीं सारा राष्ट्र ही ओजरहित हो जाता है और धार्मिक होते ही वे मधुर एवं शक्ति-वर्द्धक हो जाते हैं। राजा तपस्वी से विदा लेकर चले गए और तपस्वी के कथन की परीक्षा लेने के लिए अधर्म का आचरण किया। कुछ समय बाद वे पुनः तपस्वी के पास गए, इस बार उन्हें वन के पके हुए फल कड़ुए लगे और उन्हें थूक दिया। इस पर बोधि-सत्त्व ने कहा कि निश्चय ही राज्य का राजा अधार्मिक हो गया दीखता है। इसी से फल-मूल नीरस हो गए हैं। राजा ब्रह्मदत्त ने इस परिवर्तन से सीख लेकर भविष्य में सदा धर्मानुसार राज्य करने का संकल्प किया और उसे सदा निबाहा।[3]

राजा के धर्माचरण के विषय में महाभारत एवं बौद्धधर्म दोनों का समान मत प्रतीत होता है। पर बौद्ध मतानुसार इसका महत्त्व इतना अधिक बढ़ाया गया है कि राजा के धर्माचरण का प्रभाव प्रकृति के फल-फूल आदि के साथ भी जोड़ दिया गया है।

---

1. संयुत्त निकाय, सगाथा वर्ग, परिच्छेद 3, पब्बनूपम सुत्त।
2. संयुत्त निकाय, सगाथा वर्ग, परिच्छेद 11, कुलावक सुत्त।
3. जातक, 334 राजोवाद जातक पृष्ठ संख्या 275-277।

शान्ति पर्व में जहाँ धर्मपूर्वक प्रजा-पालन राजा का प्रथम कर्त्तव्य कहा गया, वहाँ राजा का दूसरा गुण निरन्तर उद्योगी बने रहना कहा गया है। उद्यमशील राजा या शासक ही यश और गौरव प्राप्त कर सकता है। इस सम्बन्ध में उल्लेख है—"राजा को निरन्तर पुरुषार्थी होना चाहिए। जो शासक परिश्रम छोड़कर बेकार बैठा रहता है, उस राजा की कभी प्रशंसा नहीं होती।"[1] इसी के साथ महाभारतकार ने अच्छे शासक के लिए ईर्ष्या-त्यागी और मधुरभाषी होना आवश्यक कहा है। भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर को सीख दी—"सनातन धर्म का पालन उसी शासक द्वारा सम्भव है, जो अपने राज्य में कूटनीति, कपट, माया एवं ईर्ष्या का अन्त करवा दे। शासक को व्यवहारकुशल होना चाहिए, मधुर एवं शिष्ट व्यवहार से शासक का सर्वत्र सम्मान होता है। साथ ही राजा को निरन्तर दुष्टों एवं आततायियों का नियन्त्रण करना चाहिए। धन का दान-उपयोग करते हुए निरन्तर शुद्ध एवं सदाचारी बने रहना चाहिए।"[2]

इस प्रकार शान्तिपर्व में राजा के लिए धर्मपालक, पुरुषार्थी, मधुरभाषी, व्यवहारकुशल, नियन्ता एवं सदाचारी होना आवश्यक कहा गया है।

बौद्ध साहित्य में जहाँ महापुरुषों के 32 लक्षणों से युक्त होने की बात कही गई है वहाँ उनके द्वारा विशिष्ट गति प्राप्त करने के सम्बन्ध में कहा गया है—"महापुरुष की पहली गति यह है कि वह धार्मिक, चारों ओर विजय प्राप्त करने वाला, शान्ति स्थापित करने वाला होता है और चक्रवर्ती राजा या शासक होता है। वह सम्पूर्ण पृथिवी को केवल धर्म से जीतकर रहता है।"[3] इससे ज्ञात होता है कि राजा के लिए धर्मपरायणता आदि उदात्त मानव गुणों से युक्त होना बौद्ध मत में भी आवश्यक माना गया है। महापुरुष के लिए कहे गए 32 लक्षण चक्रवर्ती राजा में भी होने चाहिएँ, ऐसी धारणा है। दोनों में भेद नहीं माना गया।

उपायों का अवलम्बन—

यद्यपि सिद्धान्त रूप से राजशास्त्र धर्म के पथ का अवलम्बन स्वीकार करता है, तथापि महाभारत में राजा के लिए कई स्थलों पर ऐसे साधन अपनाने की सलाह दी गई है जो सामान्यतया नीतिसंगत नहीं प्रतीत होते। भीष्म पितामह ने महाराजा युधिष्ठिर को शत्रु के प्रति व्यवहार के सम्बन्ध में निर्देश देते हुए कहा—"राजा को विरोधी से व्यवहार करते हुए सब प्रकार का दया का व्यवहार छोड़ देना चाहिए। मुनि भारद्वाज

1. शान्ति० अ० 57 श्लो० 1, 11 (भण्डारकर सं०)
2. शान्ति० अ० 57 श्लो० 37, 22 (भण्डारकर सं०)
3. दीघनिकाय, 2-1 विपस्सी बुद्ध की जीवनी, बत्तीस शरीर-लक्षण

तथा सौवीर के राजा शत्रुन्तप के मध्य इसी आधार पर बात हुई थी—वाणी में प्रत्येक को बहुत विनम्र होना चाहिए, परन्तु हृदय में छुरे के समान होना चाहिए। समृद्धि के अभिलाषी को दूसरे के पैरों पर सिर रख कर आँसू बहाने चाहिएँ, लक्ष्यसिद्धि तक शत्रु को अपने कन्धों पर उठाने में भी संकोच नहीं करना चाहिए। जब उचित अवसर मिले तब उसे एक मिट्टी के पात्र के समान पत्थर पर पटक कर तोड़ देना चाहिए।"[1] शान्ति-पर्व में ही उल्लेख है—"जब किसी की दयनीय स्थिति हो जाए तब उससे पिण्ड छुड़ाने के लिए हल्का या भीषण कोई भी उपाय अपनाना चाहिए। प्रतिपक्षी पर अपना विश्वास जमाने के लिए ऐसे उपाय अपनाने चाहिएँ जो सत्य प्रतीत हो रहे हैं और प्रतिपक्षी द्वारा एक भी अनुचित कदम उठाने पर ठीक समय उस पर प्रहार कर उसे नष्ट कर देना चाहिए।"[2]

इसी पर्व में एक अन्य स्थान पर कहा गया है—"किसी ऋण, आग या शत्रु का अंश भी रह जाए तो वे बढ़ जाते हैं, फलतः उनका एक अंश भी नहीं छोड़ना चाहिए।"[3]

बौद्ध साहित्य में सिद्धान्ततः प्रत्येक से सत्य तथा अहिंसा के व्यवहार पर बल दिया गया है। वहाँ प्रेमभाव एवं सत्य के द्वारा शत्रु को वश में करने का संकेत किया गया है। जैसा कि दीघनिकाय के उस उद्धरण से प्रतीत होता है जहाँ भिक्षु के लिए शील सम्पन्न होकर शत्रुओं पर विजयी हुए-हुए राजा के समान निर्भय होने का निर्देश है।[4]

शत्रुनाश के बिना राजा कभी भयहीन नहीं हो सकता, इस तथ्य को शान्तिपर्व तथा बौद्ध साहित्य दोनों स्थानों पर स्वीकार किया गया है। इसके साथ ही बौद्ध मत में भिक्षु के द्वारा अपने काम-क्रोध आदि शत्रुओं को नष्ट करने का भी संकेत दिया गया प्रतीत होता है। एक विषय में दोनों में भेद अवश्य कहा जा सकता है कि शान्तिपर्व के नीतिसम्बन्धी स्थलों में ऐसे साधन अपनाने की सलाह दी गई है जो सामान्यतया उचित नहीं समझे जाते। दूसरी ओर बौद्ध साहित्य में इस प्रकार का परामर्श देखने को भी नहीं मिलता। महाभारत में इह लोक की तथ्यात्मकता को स्वीकार करते हुए व्यावहारिक दृष्टिकोण दिया गया है, बौद्ध मत में पारलौकिक सिद्धि का संकेत किया गया है।

महाभारत में कई स्थलों पर विभिन्न शिक्षाएँ विभिन्न सन्दर्भों में दी गई हैं। शत्रुनाश के लिए सुविचारित क्रूरता तथा धोखे के विषय में नीति-परामर्श सुनकर युधिष्ठिर बेचैन हो गए थे। उन्होंने स्पष्ट रूप से भीष्म को कहा—"आपने जिस प्रकार

---

1. शान्ति० अ० 140 श्लो० 13,17,18 (सातवलेकर सं०)
   अ० 138 श्लो० 13-17-18 (भण्डारकर सं०)
2. शान्ति० अ० 140 श्लो० 38, 44 (सातवलेकर सं०)
   अ० 138, श्लो० 38,44 (भण्डारकर सं०)
3. शान्ति० अ० 140 श्लो० 58 (सात०), अ० 138, श्लो0 58 (भण्डारकर सं०)
4. दीघनिकाय, 1-2 शील० 3 महाशील पृष्ठ 27।

के पथ का निर्देश किया है उसमें और डाकुओं के कार्य में कोई भिन्नता नहीं है। इस पर भीष्म ने उत्तर दिया—मैंने अपने वक्तव्य का आधार पवित्र शास्त्र नहीं बनाए, परन्तु मेरा परामर्श बुद्धिमान् मनुष्यों द्वारा जाँचे-परखे गए सुविचारित नीतिमार्ग पर आधारित है। यह नीतिमार्ग दो प्रकार का होता है—पहला स्पष्ट और दूसरा वक्र। सामान्य रूप से किसी भी व्यक्ति को वक्र मार्ग का आचरण नहीं करना चाहिए और वक्र नीति अपनाने वाले शत्रु के प्रति ही यह रास्ता अपनाना चाहिए।"[1]

भीष्म पितामह के उक्त कथनानुसार राजनीति का एक ही निश्चित मार्ग नहीं कहा जा सकता। साथ ही राजनीति एवं राजधर्म केवल शास्त्रों पर आश्रित नहीं होने चाहिएँ, अपितु परिस्थिति तथा युक्ति पर आश्रित होने चाहिएँ।

राजा के सामान्य कर्त्तव्यों की दृष्टि से शान्ति पर्व और बौद्ध धर्म में कुछ भिन्नता प्रतीत होती है। बौद्ध धर्म में राजा के लिए हमेशा उचित मार्ग पर चलने का निर्देश किया गया है। जैसा कि "**दीघ निकाय**" में दिये गए एक उद्धरण से प्रतीत होता है जहाँ त्यागी एवं तपस्वी श्रमण ब्राह्मणों के सत्परामर्श के अनुसार बुराई का त्याग तथा भलाई को ग्रहण करना राजा का व्रत कहा गया है।[2] शान्तिपर्व में राजा के लिए समयानुकूल आचरण करने की सीख दी गई है। महाभारत के दृष्टिकोण में जीवन में कुछ भी त्याज्य नहीं है, वहाँ व्यावहारिकता पर अधिक बल देते हुए जीवन का यथार्थ चित्रण किया गया है।

महाभारत के शान्तिपर्व में यह परामर्श भी दिया गया है कि यदि राजा निर्बल हो और उसे प्रबल शासक से संघर्ष में विजय प्राप्त करनी हो तो उसे अग्नि और विष का प्रयोग करना चाहिए। एक अन्य स्थान पर उल्लेख है—"राज्य की सुरक्षा ही राजा का सर्वोपरि लक्ष्य होना चाहिए। एक राजा को जिसका राज्य क्षीण हो गया हो, फलतः जो कठिनाई में हो, तपस्वियों और विद्वान् ब्राह्मणों को छोड़कर शत्रु प्रजा को आतङ्कित कर अपना क्षीण कोष बढ़ाना चाहिए।"[3] एक दूसरे अध्याय में कहा गया है, "अपने हित से ही मित्र और शत्रु बनते हैं और राजाओं की राजनीति का मुख्य आधार अविश्वास होता है।"[4]

महाभारत में अपना राज्य दृढ़ करना राजा का लक्ष्य कहा गया है, चाहे उसके

---

1. शान्ति॰ अ॰ 142, श्लोक 1, 6, 7, 8 (सातव॰ सं॰),
   अ॰ 140, श्लो॰ 1, 6,7, 8 (भण्डारकर सं॰)
2. दीघ॰ 26 चक्कवत्ति सोहनाद सुत, 1 चक्रवर्ति व्रत।
3. शान्ति॰ अ॰ 130 श्लो॰ 20 (सातव॰ सं॰),
   अ॰ 128, श्लो॰ 20 (भण्डारकर सं॰)
4. शान्ति॰ अ॰ 138 श्लो॰ 196, 197 (सातव॰ सं॰),
   अ॰ 136, श्लो॰ 187-188 (भण्डार॰)

लिए शत्रु पर अग्नि व विष का प्रयोग ही क्यों न करना पड़े। राजा अपने हित के लिए अविश्वास का भी आधार ले। इस प्रकार महाभारत के दृष्टिकोण में बौद्ध मत से अंतर प्रतीत होता है। पूर्ववर्णित उदाहरण में महात्मा बुद्ध ने वज्जि संघ के द्वारा यह बात स्पष्ट की कि कोई भी राज्य संगठन एवं एकता के द्वारा स्थिर रह सकता है। उनको मारने के लिए फूट या धोखा देने की बात बुद्ध ने नहीं कही।

राजनीति के प्रसङ्ग में बौद्ध-वाङ्मय में कहा गया है कि कामनाओं को पूर्ण करने के कारण ही लोगों में पारस्परिक वैमनस्य उत्पन्न हो जाता है, उसके परिणाम-स्वरूप कलह होता है। एक राजा का दूसरे राजा के साथ युद्ध भी वैमनस्य का परिणाम है। अतः युद्ध के निवारण के लिए मूलभूत कामनाओं का वशीकरण आवश्यक है, तभी राज्य में शान्ति सम्भव है।[1]

दोनों विचारधाराओं में एक मूल अन्तर दिखाई देता है। शान्तिपर्व के राजधर्म प्रकरण में राजा या शासक को सबका आधार बताते हुए उसको बहुत महत्व दिया गया है, दूसरी ओर बौद्ध विचारधारा में कामनाओं से शून्य भिक्षु को लोकेषणा-वित्तैषणा से परिपूर्ण राजा की अपेक्षा अधिक गौरवास्पद कहा गया है। सन्दर्भतः भोगी की अपेक्षा त्यागी की महत्ता स्वीकार करते हुए भी शान्तिपर्व में गृहत्यागी भिक्षु की अपेक्षा संयमी एवं मर्यादाओं से परिपूर्ण राजा एवं गृहस्थी को भी कम महत्ता नहीं दी गई है। इस पर्व में सुलभा और राजर्षि जनक के सम्वाद तथा मुनि जाजलि और वैश्य तुलाधार के सम्वाद इस तथ्य को पुष्ट करते हुए प्रतीत होते हैं।

राजा का दायित्व

प्रजापालन राजा का एक धार्मिक कर्त्तव्य कहा गया है, इस कर्त्तव्य की पूर्ति के लिए राजा के विभिन्न दायित्व बताए गए हैं। बृहस्पति आदि प्रमुख सात[2] राजशास्त्र-प्रणेताओं ने प्रजासंरक्षण को ही राजा का प्रधान धर्म कहा। प्रजासंरक्षण के साथ-साथ राज्य में शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था एवं असहायों, विधवाओं एवं रोगियों आदि को चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएँ, आवास, भोजन आदि की व्यवस्था करना राजा का दायित्व कहा गया है। शान्तिपर्व में कहा गया है कि शासक या राजा का कर्त्तव्य है कि वह सदा निज राज्य का पालन करे और पराए राष्ट्र की गतिविधियों पर

1. मज्झिम निकाय, 1 मूल पण्डासक, 4 चूल दुक्खस्कन्ध पृष्ठ 59।
2. बृहस्पति, 2. विशालाक्ष, 3. मनु, 4. शुक्राचार्य, 5. इन्द्र, 6. भारद्वाज, 7. गौर-शिरा। "रक्षामेव प्रशंसन्ति धर्मं धर्मभृतां वर।
शान्ति० अ० 58 श्लोक 1 से 3 (भण्डारकर सं०)

दृष्टि रखे ।[1]

राजा या शासक की आवश्यकता कई ग्रन्थों में प्रतिपादित की गई है। महाभारत तथा कई नीति ग्रन्थों में कहा गया है--बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है···**यह मात्स्य सिद्धान्त लोक** में प्रचलित न हो, इसके लिए सुव्यवस्थित शासन व्यवस्था की प्रतिष्ठा होनी चाहिए। शान्तिपर्व में उल्लेख है—"इस संसार के बीच यदि दण्ड नहीं रहता तो समस्त प्रजा नष्ट हो जाती। अधिक बलवान् प्राणी अपने से निर्बल प्राणियों को जल में अवस्थित मछलियों की भांति असहाय समझ कर खा जाते हैं।"[2]

इस प्रकार राज्य में व्यवस्था तथा प्रजा का संरक्षण करने की दृष्टि से राजा की आवश्यकता का शान्तिपर्व में प्रतिपादन किया गया है। राज्यव्यवस्था के पूर्ववर्णित सात अङ्गों (स्वामी, अमात्य आदि) का भली प्रकार संरक्षण एवं संवर्द्धन इसी पर्व में राजा का कर्त्तव्य कहा गया है।[3]

बौद्ध साहित्य में सारी पृथ्वी पर एक चक्रवर्ती धर्मराज्य की बात कही गई है। "चक्रवर्ती राजा महासुदस्सन के नाम का उल्लेख किया गया है, उसके सात रत्नों और ऋद्धियों का भी वर्णन उपलब्ध होता है। सात रत्न कहे गए हैं—हस्तिरत्न, अश्वरत्न, मणिरत्न, स्त्रीरत्न, गृह-पति-रत्न, वैश्य रत्न और परिणायक रत्न। इसी प्रकार 4 ऋद्धियाँ—ये कही गई हैं—अभिरूप परमवर्ण पुष्कल, दीर्घायु चिरस्थितिक, नीरोग-नीरान्तक और गृहपतियों को प्रिय। (हस्ति और अश्व अद्भुत शक्ति के वाहन होते हैं, उनसे समस्त राज्य का निरीक्षण होता है, मणिरत्न से सर्वत्र ज्योति और प्रकाश का विस्तार होता है, स्त्रीरत्न प्रियचारिणी प्रियवादिनी होती है, वैश्यरत्न से आवश्यकतानुसार सुवर्ण ऐश्वर्य की उपलब्धि होती है, और परिणायक रत्न से राज्य का अनुशासन होता है)। इन सात रत्नों और 4 ऋद्धियों से युक्त राजा के लिए दिव्य चक्ररत्न ठहरता है, उस दिशा के सब राजा चक्रवर्ती राजा की अधीनता स्वीकार कर लेते हैं। फलतः

---

1. शान्ति० अ० 86, श्लो० 23, 24 (सातव० सं०)
   अ० 87, श्लो० 23-24 (भण्डारकर सं०)
   अ०77 श्लो० 30 (सातव० सं०), अ०78, श्लो० 30 (भण्डार० सं०)
   देखिए आदि पर्व 49,11, सभापर्व 18,24, विराट 18,24।
2. शान्ति०अ० 15, श्लो० 30 (भण्डारकर सं०)
   इसी प्रकरण में कौटिल्य 1,4 कामन्दक 2,40
   मात्स्यन्यायाभिभूता-प्रजाः मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे। कौ०1,13।
3. शान्ति० अ० 69 श्लो० 64 (सातव० सं०), अ० 69 श्लो० 62 (भण्डार० सं०)
   अन्य स्थल भी देखिए—कौटि० अर्थ 6 6 पृष्ठ 28, याज्ञवल्क्य 3,63
   मनु संहिता 9,294, विष्णु धर्मसूत्र 3,?3।

राजा महासुदस्सन उन सब राजाओं से संकल्प करवाता है—हिंसा नहीं करनी चाहिए, चोरी दुराचार, मिथ्याभाषण एवं मद्य आदि का सेवन नहीं करना चाहिए, केवल उचित भोग ही करना चाहिए। इस प्रकार विभिन्न दिशाओं के राजा चक्रवर्ती राजा के अनुगामी हो जाते हैं।"[1] इस कथा के द्वारा राजा के कर्त्तव्यों का निर्देश किया गया है। दीघनिकाय में एक अन्य स्थान पर दृढ़नेमि नामक एक अन्य चक्रवर्ती राजा के नाम का भी उल्लेख है।

जहां तक चक्रवर्ती राजा के राज्य-बिस्तार का प्रश्न है शान्तिपर्व एवँ बौद्ध साहित्य दोनों में सेना के सहारे अन्य राज्यों को माण्डलिफ बनाकर अपनी अधीनता में लाने की समान दृष्टि प्रतीत होती है। महात्मा बुद्ध ने इस प्रकार के सर्व गुण सम्पन्न चक्रवर्ती राजा की कल्पना अवश्य की जो सत्य, अहिंसा आदि सद्‌गुणों के आधार पर चारों दिशाओं में अपने धम्म-चक्र का विस्तार करे। महाभारत में वर्णित राज्य व्यवस्था के साथ 7 अंगों के समान बौद्ध-साहित्य में वर्णन उपलब्ध नहीं होता, पर वहां राजा के 7 रत्नों और 4 ऋद्धियों का वर्णन किया गया है। बौद्ध विचारधारा में राजा के कर्त्तव्यों के प्रसंग में उसको सब लोगों में हिंसा, मद्य-पान एवं दुराचार आदि दुर्गुणों को दूर करना चाहिए" यह उल्लेख किए जाने से बौद्ध मत में राजा का कार्य-क्षेत्र अधिक विस्तृत कहा जा सकता है क्योंकि महाभारत में प्रजाजनों के दुर्गुण दूर करने का विधान ब्राह्मणों के लिए है, क्षत्रिय अथवा राजा के लिए नहीं। अतः महाभारत में राजा के कार्य की परिधि बौद्ध-मत की अपेक्षा सीमित प्रतीत होती है। शान्तिपर्व में स्पष्ट कहा गया है—"धर्म एवं कर्त्तव्यों के प्रति अनुष्ठान एवं निबन्धन से ही राजा हुआ करते हैं, न कि कामनाओं या इच्छाओं के अनुष्ठान से। "जिस प्रकार माता अपनी सन्तान के प्रति व्यवहार करती है उससे कहीं अधिक प्रजा और सेवकों के प्रति राजा को व्यवहार करना चाहिए।"[2]

शान्तिपर्व में इस तरह के राजा का उल्लेख है जो सारी पृथिवी को एक छत्र के नीचे ले आता है—

य इमामखिलां भूमिं शिष्यादेको महीपतिः। शा०प० 173 (भण्डारकर) एक अन्य स्थान पर कहा गया है—"विजय धर्म के अनुसार होनी चाहिए। साम्राज्य का यह अर्थ नहीं कि विजयी की भाषा और शासन व्यवस्था विजित प्रदेश पर लाद दी जाए।"[3]

इसी पर्व में वर्णन किया गया है—"पृथिवी और नगर निवासियों का यथारीति

---

1. दीघनिकाय, 2 महावग्ग, 17 (4) महासुदसन सुत्त
   (2) चक्रवर्ती के सात रत्न
2. शान्ति० अ० 60 श्लो० 3, (सातव० सं०), अ० 91, श्लो० 2 (भण्डारकर सं०)
   अ० 139, श्लो० 105 (सातवलेकर स०), अ० 137, श्लो० 101 (भण्डारकर)
3. शान्ति० अ० 96 श्लो० 11 (सातव० सं०), अ० 97, श्लो० 10, (भण्डारकर सं०)

से परिपालन करके राजा लोक-परलोक में सुख प्राप्त करते हैं। जो अपनी प्रजाओं का उचित प्रकार से पालन करता है उन्हें दूसरी तपस्या करने का क्या लाभ है ? तथा उन्हें यज्ञ की भी क्या आवश्यकता है, क्योंकि सच्चा प्रजापालन कर वे स्वयं धर्म को भली प्रकार जानते हैं।"[1]

राजा के लिए इस तरह का वर्णन बौद्ध साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। वहां यद्यपि प्रजापालन राजा का धर्म कहा गया है, पर अहिंसा, सत्यभाषण, सदाचार आदि के द्वारा ही। बौद्ध मत में प्रजापालन ही राजा की तपस्या नहीं कही गई, वहां केवल राज-धर्म के परिपालन से ही मुक्त नहीं हो सकता, अपितु मुक्त होने के लिए उसे भिक्षु होना आवश्यक कहा गया है।

दण्ड

नीतिग्रन्थों में दण्ड की महत्ता का भी आख्यान है। शान्तिपर्व में राजा को **'दडण धर'** नाम दिया गया है।[2] यह दुष्टों का दमन और साधारण पुरुषों को शासित करता है इसलिए पण्डितों ने इसका नाम दण्ड रखा है। **दमयत्यदण्ड्यान्दण्ड् यत्यपि** दण्ड अनियन्त्रितों का नियन्त्रण करता है (दम धातु से), जो दुर्जन हैं उन्हें दण्ड देता है (दण्ड धातु से)। महाभारतकार के मतानुसार "दण्ड समस्त लोकों का शासन करता है, यह समस्त प्रजाओं एवं प्राणियों का संरक्षण करता है। जब कानून और व्यवस्था के संरक्षक भी सो जाते हैं तब, दण्ड जागता रहता है। बुद्धिमान व्यक्ति दण्ड को ही धर्म समझते हैं।"[3]

दण्डविधान के सम्बन्ध में शान्तिपर्व में कहा गया है कि दण्ड न बहुत कठोर हो और न बहुत सरल हो। वह किये हुए अपराध के उपयुक्त होना चाहिए। वहाँ योग्य शासक की सुदृढ़ता दण्ड के आधार पर ही कही गई है। इस प्रसङ्ग में प्रजा का भी कर्त्तव्य शासक की रक्षा करना कहा गया है, क्योंकि शासक के सुरक्षित न रहने पर प्रजाजन की सुरक्षा कैसे सम्भव है।[4]

महाभारत के विभिन्न स्थानों पर दण्ड के सदुपयोग की चर्चा करते हुए जहाँ राजा द्वारा प्रजाजनों को दण्ड दिए जाने के सम्बन्ध में विशद वर्णन किया गया है, वहाँ एक स्थान पर जब राजा प्रजा पर अत्याचार कर धर्म का उल्लंघन करते हुए केवल

---

1. शान्ति०अ०69 श्लो०72,73 (सातव०स०), अ०69, श्लो० 70-71 (भण्डार०) देखिए अर्थशास्त्र 1-10।
2. राजा चेन्न भवेल्लोके पृथिव्या दण्डधारकः—शान्ति०67-16 (भण्डारकर सं०) देखिए कामन्दक 1-1।
3. शान्ति० अ० 15, श्लो०2,8, (भण्डारकर सं०)
4. शान्ति० अ० 56-21, 57-41 (भण्डारकर)

अपने प्रति आहुतियाँ चाहे, तब प्रजा द्वारा उसकी हत्या भी उचित कही गई है।[1] शान्ति पर्व में एक अन्य स्थल पर राजा का यह प्रधान दायित्व कहा गया है कि वह दण्ड का ठीक प्रयोग कर अपराधियों का नियन्त्रण कर देश को आन्तरिक अव्यवस्था और बाह्य आक्रमण से सुरक्षित रखे।[2]

शान्तिपर्व में दण्ड के विषय में दिए गए विभिन्न उद्धरणों की तुलना में बौद्ध साहित्य के प्रमुख ग्रन्थ धम्मपद में दण्ड के विषय में भिन्न दृष्टिकोण मिलता है। वहाँ कहा गया है।—"सब मनुष्य दण्ड से डरते हैं और मृत्यु से भयभीत होते हैं। सब प्राणियों को अपने समान जान कर मनुष्य न किसी को मारे और न किसी को मारने की प्रेरणा दे। अपने सुख की कामना करने वाला जो मनुष्य दूसरे व्यक्तियों की दण्ड से हिंसा करता है वह मर कर सुख प्राप्त नहीं करता।"[3] शान्ति पर्व में कहे गए दण्ड के महत्त्व से बौद्ध ग्रन्थ में किया गया वर्णन भिन्न प्रतीत होता है।

दण्ड के संदर्भ में एक दृष्टि से शान्तिपर्व एवं बौद्ध मत में समानता कही जा सकती है जबकि बौद्ध साहित्य में सच्चा ब्राह्मण, श्रमण एवं भिक्षु उसको कहा गया है जो ब्रह्मचर्य-पालन आदि गुणों से युक्त होता हुआ सब प्राणियों के प्रति दण्ड का निवारण करने वाला भी हो। इसी प्रकार शान्तिपर्व में ब्राह्मण के गुणों में सत्य-अहिंसा आदि गुणों के साथ सब प्राणियों के प्रति दण्ड का अप्रयोग भी एक गुण माना गया है।[4]

शान्तिपर्व में दण्डनीति को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है कि उसका सम्बन्ध सतयुग के साथ जोड़ा गया है। एक स्थान पर उल्लेख है कि जब तक शासक दण्डनीति का ठीक प्रयोग करता है, अनुचित उपायों से प्रजा को पीडित न कर सद्व्यवहार से प्रजा का संरक्षण एवं संवर्द्धन करता है तो समस्त प्रजा कर्त्तव्य-पथ पर प्रवृत्त रहती है और तब तक सतयुग विद्यमान रहता है। दण्डनीति का परित्याग और असदाचरण ही कलिकाल के तुल्य होता है।[5]

एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि दण्डनीति का पूरा प्रयोग करने पर सतयुग, चौथाई अंश का परित्याग करने पर त्रेता, आधे का त्याग करने पर द्वापर और केवल चौथाई अंश रह जाने पर कलियुग आ जाता है।"[6] इसके आधार पर कहा जा सकता

1. शान्ति०अ०59 श्लोक 94 (सातव० सं०), अ०59, श्लोक 100 (भण्डारकर) देखिए अनुशासन पर्व अ० 61 श्लो० 32, 33।
2. शान्ति० अ० 77 (भण्डारकर सं०)
3. धम्मपद, 10 दण्डवग्गो 129-131, 1-3; 132-4।
4. शान्ति० अ० 175 श्लो०37 (सातवलेकर); अ०169, श्लो० 35 (भण्डारकर)
5. शान्ति० अ० 70, श्लो० 2-8 (भण्डारकर)
6. शान्ति० अ० 70, श्लो०7, 14, 16, 18 (भण्डारकर)

है कि दण्ड का पूर्ण एवं समुचित प्रयोग किए जाने के फलस्वरूप जनसामान्य में दोष व दुर्गुणों का सर्वथा परिहार होने से सतयुग विद्यमान रहता है। तथा दण्ड का कम से कम प्रयोग किए जाने से दोष बढ़ जाते हैं तभी कलियुग का समय आ जाता है।

इसी पर्व में एक स्थान पर दण्ड को ही राज्य का कारण कहा गया है।[1]

धम्मपद में एक स्थान पर उल्लेख है कि जो व्यक्ति दण्ड के अयोग्य एवं निर्दोष लोगों को दण्ड से पीडित करता है, वह हानि, निन्दा, जाति-नाश तथा योग्य वस्तुओं के क्षय को प्राप्त करता है तथा निर्दोष दण्ड देने पर राजा भय को प्राप्त करता है।[2] इस वर्णन से यह संकेत लिया जा सकता है कि राजा दोषी को दण्ड देने पर भयभीत नहीं होता। सामान्यत: बौद्ध साहित्य में राजा के धर्म में दण्ड के महत्त्व के विषय में कुछ विशेष उपलब्ध नहीं होता। साथ ही कहीं दण्ड का प्रयोग करने के विषय में कोई स्पष्ट वर्णन भी नहीं मिलता।

धन

शान्तिपर्व में राजधर्म की सार्थकता धन द्वारा सिद्ध होने की बात कही गई है। इसके साथ ही वहां धर्म, आदि पुरुषार्थों की सिद्धि तथा प्राण-यात्रा के निर्वाह में भी धन की अनिवार्यता स्वीकार की गई है।[3]

एक अन्य स्थान पर उल्लेख है—"जिस मनुष्य के पास धन है उसी के मित्र और बान्धव हैं। जिसके पास धन है वही पण्डित और सच्चा पुरुष है।···महाभारत के युद्ध के पश्चात् शोकमग्न हुए-हुए महाराजा युधिष्ठिर को अर्जुन ने कहा—यदि दूसरों का धन लेना उचित नहीं है तो राजा लोग प्रजा से कर लिए बिना धर्म का अनुष्ठान कर ही नहीं सकते, क्योंकि पराए धन के अतिरिक्त अपना धन राजाओं के पास कुछ भी नहीं होता।"[4]

बौद्ध साहित्य में भी कुछ स्थलों पर धन की महत्ता स्वीकार की गई है। वहाँ कहा गया है—"उचित काम करने वाला, दृढ़ और प्रयत्नशील मनुष्य धन प्राप्त करता है। वह सत्य से कीर्ति प्राप्त करता है और दान देकर मित्र बनाता है।"[5] एक दूसरे स्थल पर यह भी उल्लेख है—"जिन्होंने यौवन में धन प्राप्त नहीं किया, वे लोग मछलियों से

1. शान्ति० अ० 121, श्लो० 46 (भण्डारकर)
2. धम्मपद, 10 दण्डवग्गो, 137-140, 9-12।
3. शान्ति० अ० 8, श्लो० 12,17 (भण्डारकर सं०)
   देखिए मनुस्मृति अ० 2, श्लोक 224
4. शान्ति० अ० 8, श्लोक 19, 26 (भण्डारकर सं०)
5. सुत्तनिपात उरगवग्ग, आलवक सुत्त, श्लोक 7

शून्य जलाशय में वृद्ध क्रौंच पक्षी के समान चिन्तामग्न होते हैं।"[1]

उपर्युक्त उद्धरणों से प्रतीत होता है कि महाभारत में धन का महत्त्व स्वीकार किया गया है, विशेष रूप से राजा के लिए। इसी प्रकार बौद्ध मत में भी इन पंक्तियों से धन की महत्ता स्वीकार की गई ज्ञात होती है। साथ ही राजा के सम्बन्ध में भी बौद्ध मत में धन का महत्त्व माना जा सकता है जैसा कि राजा के सात रत्नों का उल्लेख पहले आ चुका है।

महाभारत और बौद्ध साहित्य दोनों में धन के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी अकिञ्चनता की प्रशंसा की गई है जो कि महाभारत में सन्दर्भतः कही जाएगी एवं बौद्ध साहित्य में सिद्धान्त रूप में है। शान्ति पर्व में भीष्म ने अकिञ्चन की परिभाषा करते हुए कहा—"जिसके धन-स्त्री आदि कुछ भी नहीं हैं वह **"अकिञ्चन"** कहलाता है। अकिञ्चन या दरिद्र पुरुष ही सुख से सोता और उठता है। दरिद्रता ही लोक में कल्याणकारी मार्ग और अनामय सुखस्वरूप है। अकिञ्चनता और राज्य इन दोनों के बीच महती भिन्नता यही है कि समृद्धियुक्त मनुष्य कालकवलित की तरह सदा व्याकुल रहता है और जो लोग धन-सम्पत्ति के त्याग से विमुक्त हैं, अग्नि, चोरी आदि उपद्रव उनका कोई अनिष्ट नहीं कर सकते। अकिञ्चनता का आधार त्यागवृत्ति है। समस्त काम्य वस्तुओं की प्राप्ति और समस्त कामना का परित्याग इन दोनों में से काम्य वस्तुओं की आकाङ्क्षा की अपेक्षा उसका परित्याग ही उत्तम कल्प है। धन का लोभ ही असली दुःख है, त्याग ही असली सुख है।"[2]

बौद्ध साहित्य में भी धनहीनता की अधिक महत्ता कही गई है। धम्मपद में वर्णन किया गया है—"धन मेरा है, ऐसा विचार कर मूर्ख मनुष्य दुःख पाता है। जब आत्मा ही अपना नहीं तो पुत्र कहाँ का और धन कहाँ का।"[3] इसी के साथ "संसार में धन-सम्पत्ति असली धन नहीं है बल्कि श्रद्धा ही असली धन है।"[4] सामान्य धन-सम्पत्ति की तुलना में अकिंचनता एवं धनहीनता को बौद्ध परम्परा में गौरव दिया गया है। वहाँ आरोग्य को श्रेष्ठ उपलब्धि, सन्तोष को श्रेष्ठ धन, विश्वास को परम ज्ञाति और निर्वाण को परम सुख कहा गया है।"[5]

---

1. धम्मपद, 11 जरावग्गो श्लोक 10।
2. शान्ति० अ० 170, श्लोक 7,8,11,13,16,23 (भण्डारकर सं०)
3. धम्मपद, बालवग्गो 5, श्लोक 3
4. सद्धीध वित्तं पुरिसस्स सेट्ठं—संयुक्त निकाय सगाथा वर्ग
   देवता संयुत्त वित्त सुत्त
5. धम्मपद 204-8 (सन्तुट्ठि परमं धनं)

शान्तिपर्व में सामान्यतया जीवन-व्यवहार में धन का महत्त्व स्वीकार किया गया है। विशेष रूप से राजनीति में शासन-व्यवस्था का मूल आधार धन ही स्वीकार किया गया है, क्योंकि उसके अभाव में राजा के शासन सम्बन्धी कार्य सम्भव नहीं हैं। जहाँ कहीं अकिञ्चनता व त्याग को महत्त्व दिया गया है वह सन्दर्भतः है। बौद्ध मत में यद्यपि यौवन में धन की उपलब्धि स्वीकार की गई है, तथापि सिद्धान्ततः त्याग एवं सन्तोष को ही सच्चा धन कहा गया है।

अध्याय-पाँच

दार्शनिक एवं धार्मिक विचारधारा

महाभारत एवं बौद्ध मत में साम्य एवं भेद देखने के उद्देश्य से किए गए शान्ति पर्व के अध्ययन में दार्शनिक एवं धार्मिक विचारधारा की व्यापक चर्चा आवश्यक प्रतीत होती है। तत्त्वज्ञान की दृष्टि से उपनिषदों के बाद महाभारत का भी बहुत महत्त्व रहा है। महाभारत के विभिन्न स्थानों में किए गए वर्णन से तत्त्वज्ञान पर प्रकाश पड़ता है, विशेषतः शान्तिपर्व का मोक्षधर्म, उद्योगपर्व का सनत्सुजातीय आख्यान, वनपर्व का युधिष्ठिर, व्याध सम्वाद, भगवद्गीता आदि में दार्शनिक चर्चाएँ विशद रूप से की गई हैं। मोक्ष धर्मपर्व में आचारधर्म, इहलोक एवं परलोक सम्बन्धी बहुत-सी शिक्षाएँ हैं। युद्ध के पश्चात् युधिष्ठिर को भीष्म के परामर्श के सन्दर्भ में सभी प्रकार के दार्शनिक एवं धार्मिक विचार व्यक्त किए गए। इस उपपर्व के अध्ययन से सांख्य, योग, वेदान्त, पाञ्चरात्र-जैसी परम्परागत दार्शनिक एवं धार्मिक प्रणालियों के विकास की विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान हो सकता है।

तत्त्वज्ञान का वर्णन बौद्ध साहित्य के प्रमुख ग्रन्थ तीनों पिटकों में उपलब्ध होता है। ये पिटक हैं—विनय पिटक, सुत्त पिटक और अभिधम्म पिटक। विनय पिटक में यद्यपि संघ-शासन एवं अनुशासन के नियमों, भिक्षुओं और भिक्षुणियों की जीवनचर्या का वर्णन है तथापि बहुत से स्थलों पर दार्शनिक चर्चा भी की गई है। सुत्त पिटक में नैतिकता, विभिन्न आख्यायिकाओं तथा बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का वर्णन है तथापि सन्दर्भतः दार्शनिक विषयों का भी समावेश है। अभिधम्म पिटक में विशेष रूप से धार्मिक एवं दर्शन सम्बन्धी चर्चाएँ हैं। यद्यपि महात्मा बुद्ध ने दार्शनिक विषयों पर विशेष चर्चा नहीं की, तथापि उनके परवर्त्ती मतानुयायियों ने पिटकों में दार्शनिक विषयों पर सन्दर्भतः प्रकाश डाला है।

प्राचीन तत्त्वदेत्ताओं एवं साधकों ने इस ब्रह्माण्ड एवं प्राणी जगत् की गुत्थियों को

सुलझाने के लिए कई प्रकार के समाधान अपने-अपने ढंग से रखे हैं। वेदमत से मान्य होने वाले तत्वज्ञान के सिद्धांतों के साथ अन्य सिद्धान्तों की झांकी भी हमें दिखाई देती हैं।

शान्तिपर्व में देवल ने नारद को जगत् के विकास का क्रम बताया है—"अक्षर से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधियों से अन्न और अन्न से जीव।"[1] सृष्टि उत्पत्ति का यह क्रम उपनिषदों में बताया गया है। इसी पर्व के भृगु-भारद्वाज सम्वाद में सृष्टि-उत्पत्ति का भिन्न क्रम बताया गया है।[2] वहाँ दिए गए वर्णन के अनुसार उस अक्षर देव ने महत् की सृष्टि की, महत् से अहंकार, अहंकार से आकाश, आकाश से जल, जल से अग्नि, वायु के मेल से महीमण्डल की सृष्टि होती है। महात्मा बुद्ध ने सृष्टि, जन्म-मृत्यु, परलोकवाद, ईश्वर-वाद आदि जिज्ञासाओं को अवक्तव्य एवं अनिर्वचनीय कहा। उनकी सृष्टि में ये जिज्ञा-साएँ समझने-बूझने योग्य इसलिए नहीं हैं क्योंकि उनके जानने या न जानने से कोई नैतिक लाभ नहीं है।

दार्शनिक एवं धार्मिक चर्चा के अन्तर्गत उससे सम्बद्ध विषयों में महाभारत एवं बौद्ध मत में साम्य एवं भेद देखने के लिए हमने आत्मा, ईश्वर, अनित्यता, काल, भाग्य, यज्ञ, ज्ञान एवं मोक्ष विषयों को लिया है। अब इसी क्रम से दृष्टिपात करने का विनम्र प्रयत्न किया जाता है।

आत्मा

दार्शनिकों की यह धारणा है कि आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी—इन पाँच महाभूतों में शब्द, स्पर्श, रूप रस और गन्ध के विशिष्ट गुण समाहित होते हैं और इन गुणों की अनुभूति श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका के माध्यम से होती है। पाँच महाभूत, गुण और इन्द्रियों के अतिरिक्त इच्छा, बुद्धि, अहंकार आदि के अस्तित्व के प्रश्न पर ऊहापोह करने से पूर्व यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि क्या जीव अथवा आत्मा का अस्तित्व है और वह जड़ तत्व से पृथक् है या नहीं?

नास्तिक मतावलम्बियों में प्रारम्भ में कुछ व्यक्तियों ने शरीर को आत्मा कहा, किसी ने इन्द्रियों को, किसी ने प्राण तथा किसी के मन को आत्मा कहा। परवर्ती काल में यह स्थापना की कि जगत् का चेतन अनुभव किसी भिन्न जीव का परिणाम नहीं है, अपितु शरीर में जो चैतन्य है, वह पृथ्वी जल आदि भूतों के संस्थान विशेष से ही उत्पन्न

---

1. शान्ति० अ० 275 (सातवलेकर), अ० 267 (भण्डारकर)
2. शान्ति० अ० 183 (सातवलेकर), अ० 176 (भण्डारकर)

होता है। जिस प्रकार दो-चार वस्तुओं के मिला देने से उनमें प्रत्येक में मादकता शक्ति न रहने पर भी उनकी सम्मिलित अवस्था में वह शक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार भूतों के संगठन विशेष में अचानक चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। महात्मा बुद्ध के कथनानुसार भी शरीर में आत्मा नहीं है, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, इन पाँच स्कन्धों का संग्रह ही प्राणी का व्यक्तित्व है। सभी भौतिक अवस्थाओं का संग्रहात्मक नाम "रूप" है और सभी मानसिक अवस्थाओं का संग्रहात्मक नाम **नाम** है।

महात्मा बुद्ध का सिद्धान्त है कि आत्मा नहीं है। उनका यह कथन अवश्य मिलता है **"आत्मदीपो भव"**—"भिक्षुओ, तुम आत्मदीप बनकर विचरण करो, अपनी ही शरण जाओ, किसी दूसरे को अवलम्ब न बनाओ।"[1] पर यह स्पष्ट नहीं किया गया कि आत्मा से उनका क्या अभिप्राय है? आत्मा को स्वीकार न करने के सम्बन्ध में प्रमाण स्वरूप पालि में **अनत्ता** शब्द प्रचलित है, जिसका अर्थ है—**अन अत्ता नहीं** आत्मा। यहात्मा बुद्ध के कथनानुसार रूप, वेदना आदि पंचस्कन्ध आत्मा नहीं हैं, यदि ये आत्मा होते तो इनमें रोग न होता। ये पाँचों अनित्य हैं,
दुःख रूप हैं, इनके विषय में यह समझना कि यह मेरा है, मेरा आत्मा है—ठीक नहीं। बुद्धिमान् भिक्षु इनमें निर्वेद प्राप्त करता है, विरक्त होता है और विराग से मुक्ति प्राप्त करता है।[2]

इससे प्रतीत होता है कि बौद्ध मत में आत्मा को नहीं माना गया। शान्तिपर्व में पंचशिख-जनक सम्वाद में आत्मा के विषय में जनक ने शंका प्रकट की कि जिस प्रकार बरगद के नन्हें से बीज में विशाल वटवृक्ष उत्पन्न करने की शक्ति है, रेतस् में पुरुष निर्माण करने की शक्ति है, गाय के आहार रूपी घास एवं वनस्पतियों से घी-दूध एकत्र होता है एवं भिन्न-भिन्न पदार्थों के एकत्र होने से सुवास एवं मादकता उत्पन्न होती है, उसी प्रकार इन पृथ्वी, जल आदि पाँच तत्त्वों के एकत्र होने से मन, बुद्धि, अहंकार आदि अवस्थाएँ दिखाई देती हैं। जैसे सूर्यकान्त मणि उष्णता पैदा करती है उसी प्रकार पाँच महाभूतों के संयोग से विशिष्ट शक्ति पैदा होती है।" इसका उत्तर पंचशिख ने दिया है—"मनुष्य के मरने पर कर्मव्यापार का अन्त होने पर अनुभव होता है कि महाभूतों से भिन्न कोई पदार्थ देह में अवश्य है। ऐसी स्थिति में देह से भिन्न चैतन्य की स्थिति आवश्यक है, वह जड़ पदार्थों से भिन्न गुण स्वभाव का होना चाहिए।"[3]

तत्वज्ञानियों ने आत्मा का अस्तित्व स्वीकार कर लेने के पश्चात् एक अन्य जिज्ञासा का उत्तर देने का प्रयास किया कि शरीर की तरह आत्मा नश्वर है अथवा अमर है? शान्तिपर्व में इस प्रसङ्ग में उल्लेख है—"तत्त्वदर्शी लोग देहधारियों के पुराने शरीर

---

1. दीघनिकाय 16, 3 महापरिनिब्बान सुत्त।
2. दीघनिकाय, 2. महावग्ग, 3. अनात्मवाद
3. शान्तिपर्व अध्याय 218, श्लो० 30-31 (सातवलेकर),
   अध्याय-211, श्लोक 29-30 (भण्डारकर)

का त्याग और नवीन शरीर धारण करने को ही मृत्यु नाम देते हैं। जिस प्रकार मनुष्य एक घर में से दूसरे घर में प्रवेश करते हैं उसी प्रकार जीव भी बार-बार शरीर त्यागकर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है।"[1] आत्मा की अमरता सिद्ध करने के लिए सामान्य तर्क का सहारा लिया जाता है कि मनुष्य के मरने पर देह में स्पन्दन नहीं रह जाता। उससे कल्पना होती है कि शरीर के अतिरिक्त चैतन्य है जो मृत्यु के समय शरीर से बाहर चला जाता है। इससे प्रतीत होता है कि मनुष्य के मरण के साथ आत्मा नहीं मरती। इसके अतिरिक्त इस मान्यता की भाँति कि जड़ सृष्टि और पंचमहाभूतों का आत्यन्तिक नाश नहीं होता यह भी स्वीकार करना चाहिए कि चैतन्य अथवा आत्मा का भी नाश नहीं होता।

बौद्ध साहित्य में उस व्यक्ति को पथभ्रष्ट और चित्तविभ्रान्त कहा गया है जो आत्मा को नित्य और अपरिवर्त्तनशील मानता है।[2] महात्मा बुद्ध के कथनानुसार—"सब वेदना, संस्कार आदि स्कन्ध, अनित्य प्रत्यय से उत्पन्न होने वाले और क्षय होने वाले हैं। उनमें आत्मत्व कैसे माना जा सकता है? पाँच स्कन्धों के दुःखरूप अनात्म होने से किसी भी धर्म को आत्मा का अस्तित्व मानकर स्वीकार करना उपयुक्त नहीं है।[3]

आत्मा नेत्रों से अगोचर, वचनों से अनिर्देश्य, अतिसूक्ष्म और सब प्राणियों के हृदयों में अवस्थितहै, पर अविद्या के कारण उसकी प्रतीति नहीं होती। इस पांच भौतिकी शरीर में रहने वाले उस आत्मा को मूढ़ पुरुष इच्छा द्वेष से युक्त समझते हैं। महाभारत में उल्लेख है कि जीव का विनाश नहीं होता, जीव देहान्तर में गमन करते हैं। विनाश शरीर का होता है। जैसे काष्ठों के जल जाने पर अग्नि की प्राप्ति नहीं होती, पर अग्नि निराश्रय होकर आकाश के अनुगत होने से दुर्ज्ञेय होती है। उसी प्रकार शरीर के नष्ट हो जाने पर जीव विद्यमान रहता है। तथापि अत्यन्त सूक्ष्म होने से ज्योतिर्मय पदार्थों की तरह इन्द्रियगोचर नहीं होता।[4]

बौद्ध ग्रन्थों में व्यक्ति, व्यक्तित्व, आत्मा और आत्मा से सम्बन्धित विचार-विमर्श के लिए पुद्गल, अत्ता, सत्ता और जीव आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग मिलता है। पर बौद्ध मतानुसार पुद्गल आत्मा नहीं है, उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वह मानसिक और भौतिक अनेक अवस्थाओं का समुदाय मात्र है जो उत्पत्ति और विनाश के निरन्तर क्रम में घूमा करती हैं। आत्मा नाम कोई पदार्थ स्वभावतः नहीं है, केवल नाम के लिए है। उसके अस्तित्व की सिद्धि किसी प्रमाण से नहीं होती।[5]

---

1. शान्ति० अ० 15 श्लो० 57-58 (भण्डारकर)
   देखिए गीता अ० 2, श्लोक 20-22
2. मज्झिम निकाय, मूलपरियाय सुत्त 1, 1
3. अंगुत्तर निकाय 1, 15 बुद्धवचन पृष्ठ 26
4. शान्ति० अ० 180 श्लो० 1, 2, 5, 6, 25-27 (भण्डारकर)
5. धम्मपद, 160-4

इस प्रकार जहाँ महाभारत में आत्मा का अस्तित्व स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है, वहाँ बौद्ध मत में आत्मा की सत्ता वन्ध्या-पुत्र के समान कही गई है।

ईश्वर

महाभारत में विभिन्न प्रमाणों से शरीर से आत्मा की पृथक्ता एवं अमरत्व पर ऊहापोह करने के बाद यह जिज्ञासा की गई है कि जड़ और चेतन से पृथक् तीसरा कोई न कोई परम तत्त्व होना चाहिए। वहाँ कहा गया है कि जगत् परमेश्वर से ही उत्पन्न होता है और उसी परम तत्त्व में लय हो जाता है। शान्ति पर्व (अ० 275 सातवलेकर सं०) में बताया गया है कि अक्षर ब्रह्म अथवा परमात्मा से आकाश, आकाश से वायु फिर क्रमशः अग्नि, जल, पृथ्वी, ओषधि, अन्न और अन्न से जीव की उत्पत्ति होती है। वेदान्त का यह सिद्धान्त महाभारत में स्वीकार किया गया है कि सारे संसार में अन्दर बाहर एक परमात्मा ही व्याप्त है। अध्याय 306 से 308 तक (सातवलेकर सं०) सांख्य तत्त्व का विवेचन है जिसके अनुसार सृष्टि के मुख्य 25 तत्त्वों का निर्धारण किया गया है—प्रकृति, महत्, अहंकार, पाँच सूक्ष्म भूत (ये आठ मूलतत्त्व प्रकृति के हैं) पाँच स्थूल भूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन तथा पच्चीसवाँ परम पुरुष या अक्ष ब्रह्म।[1]

एक अन्य स्थल पर उस परम तत्त्व के विषय में उल्लेख है—"समस्त संसार जिसने बनाया है उस देव का आदि, मध्य और अन्त कुछ भी नहीं है। वह ईश्वर पर ब्रह्म कह कर वर्णित किया गया है, वह अव्यय है। मनीषी लोग उसे अद्वैत, उत्पत्ति-स्थिति, नाश से रहित, नित्य, अखण्ड, कूटस्थ ब्रह्म कहते हैं, उसी से सृष्टि, स्थिति और प्रलय रूप सभी क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। तत्त्ववेत्ता उसे ही जगत् का कारण कहते हैं तथा घटादि विषयक सब विषयों का ज्ञान ही उस महाज्ञान का स्वरूप है।"[2]

शान्ति पर्व में एक स्थल पर ईश्वर के विलक्षण स्वरूप का चित्रण करते हुए कहा गया है—"जैसे धागे में माला के मनके समा जाते हैं, उसी प्रकार प्रलय काल में समस्त प्राणी उसी अविनाशी ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। ऋषिगण उसे सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष, सहस्रबाहु, जगदाधार नारायण कहते हैं। वह सूक्ष्म वस्तुओं से भी सूक्ष्म तथा गुरुतर पदार्थों से भी गुरुतर है। वह निज तेज से सूर्य तथा कर्म से वायु और इन्द्र को अतिक्रम करके विद्यमान है। वह बुद्धि तथा मन आदि इन्द्रियों से अतीत परमात्मा है।[3]

---

1. शान्ति० अ० 303 श्लो० 27-29 और 35 (सातवलेकर सं०),
   अध्याय 291। श्लो०27-29 और 35 (भण्डारकर सं०)
2. शान्ति० अ० 303, श्लो० 35-41 (सातव० सं०) अ० 291, श्लोक 35-41 (भण्डारकर सं०) अ० 199 श्लो० 17-19 (भण्डारकर सं०)
3. शान्ति० अ० 47 श्लो० 12-16 (भण्डारकर सं०)

जहाँ महाभारतकार ने सृष्टि की नियामक शक्ति के रूप में परम तत्त्व परमेश्वर की कल्पना की है उसकी तुलना में महात्मा बुद्ध ने इस प्रश्न पर मौन रहना अधिक उचित समझा। बौद्ध विचारधारा के अनुसार ईश्वर न तो धर्म की समस्या है न दर्शन की। आचार्य धर्मकीर्ति ने ईश्वर कर्तृवाद में विश्वास मानवीय बुद्धि की जड़ता का अन्तिम लक्षण बताया है।[1] बौद्ध धर्म की मान्यता के अनुसार धर्म ईश्वर के बिना भी हो सकता है और नैतिक समुन्नति के लिए उसकी अनिवार्य अपेक्षा नहीं है। दुःख न तो अकारण है और न वह ईश्वर निर्मित या भवितव्यता के कारण है। दुःख कारणों के सहित है, उन मूल कारणों का निरोध कर लिए जाने पर दुःख परम्परा भी निरुद्ध हो जाती है। बुद्ध ने हेतु और प्रत्ययों से सञ्चालित भव-प्रवाह में कर्म को ही सम्पूर्ण भौतिक और मानसिक व्यापारों का नियामक तत्त्व माना। ईश्वर को वे सृष्टिकर्त्ता नहीं मानते, क्योंकि उस अवस्था में दुःख की सृष्टि भी ईश्वरकृत माननी होगी। ईश्वर को दुःख का कर्त्ता मान लेने पर दुःख के निवारण के लिए पुरुष के प्रयत्नों को पूरा अवसर कैसे मिल सकेगा। उसकी स्वतन्त्र संकल्प-शक्ति का ह्रास होगा। सामान्यतः यही प्रतीत होता है कि महात्मा बुद्ध का उद्देश्य ईश्वर की सिद्धि अथवा असिद्धि करने का नहीं था, बल्कि मनुष्य की मूल समस्या पर ही उनकी दृष्टि केन्द्रित रही।

इसके अतिरिक्त बौद्ध मतानुसार घटादि के लिए कुलाल के अतिरिक्त ईश्वर को कारण मानने का कोई प्रयोजन नहीं है, अन्यथा ईश्वर के लिए भी ईश्वर मानना पड़ेगा। पुनः ईश्वर की सर्वज्ञता और सर्वकर्तृत्व अन्योन्याश्रय बाधित है। ईश्वर में पहले सर्वकर्तृत्व सिद्ध हो तब सर्वज्ञत्व सिद्ध होगा। और सर्वज्ञत्वसिद्धहोने पर सर्वप्रेरणा-कर्तृत्व साधित होगा। वे प्रश्न करते हैं कि सर्वज्ञ-ईश्वर अज्ञ जीवों को असद्व्यवहार के लिए प्रवृत्त क्यों करता है? ईश्वर जब विपथगामी लोगों को भी उत्पन्न करता है तब उसे प्रमाण कैसे माना जाए?

जहां बौद्ध विचारधारा में विपथगमन एवं पापकर्मों के लिए ईश्वर के अस्तित्व पर सन्देह प्रकट किया गया है वहां शान्ति पर्व के प्रारम्भ में ही वेदव्यास मुनि ने महाराजा युधिष्ठिर को परामर्श दिया है "युद्धभूमि में जो सब वीर मारे गए हैं उनका वध करने वाला ईश्वर, जीव-स्वभाव अथवा उनके किए हुए कर्मों के फल हैं। यदि ऐसा कहा जाए कि जीव ईश्वर की प्रेरणा से शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है तो भी तुम्हें शोक करना उचित नहीं है। क्योंकि उन शुभाशुभ कर्मों के फल को देने वाला ईश्वर ही है।"[2] "वह ईश्वर स्वरूप से ही सर्वव्यापक है, जीव रूप से व्याप्त तथा कार्यसाधक है। वह नित्य परमात्मा अकेला सब भूतों में निवास करता है। वह सबका कारण है, उसके अतिरिक्त सब पदार्थ कार्य हैं।"[3] इस प्रकार विभिन्न स्थलों पर शान्ति पर्व में ईश्वर के

---

1. वेदप्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः—प्रमाणवार्तिक।
2. शान्ति॰अ॰32 श्लो॰12, 15(भण्डारकर)
3. शान्ति॰अ॰195 श्लो॰7 (भण्डारकर)

स्वरूप का विवेचन किया गया है।

शान्तिपर्व में जहाँ स्थान-स्थान पर ब्रह्माण्ड के निर्माता, संचालक, संहारक परमेश्वर के स्वरूप एवं सत्ता का उल्लेख है, उधर बौद्ध साहित्य में ईश्वरवाद सम्बन्धी प्रश्न को अवक्तव्य एवं अनिर्वचनीय कहा गया है। बौद्ध मतानुसार इस जिज्ञासा के समाधान से मनुष्यों को कोई लाभ नहीं है। ईश्वर के सम्बन्ध में बौद्ध मत यही प्रतीत होता है कि ईश्वर भक्ति में आस्था रखने वाला मानव शिथिल और पराश्रित हो जाता है। भक्ति के सहारे ईश्वर के भरोसे में रहकर मनुष्य असद् आचरण कर सकता है, फलतः बौद्ध-चिन्तन में ईश्वर या उसकी भक्ति को स्थान नहीं है।

महाभारत में कल्याण की दृष्टि से ईश्वर में आस्था, भक्ति एवं शरणागति की स्थिति कही गई है तो बौद्ध चिन्तन में इस दृष्टि से बुद्ध, धर्म और संघ की शरण पर बल दिया गया है।[1]

अनित्यता

शान्तिपर्व एवं बौद्ध साहित्य दोनों में अनित्यता के सम्बन्ध में पर्याप्त चर्चा की गई है। महाभारत युद्ध में हुए सम्बन्धियों के संहार से दुःखी युधिष्ठिर को सान्त्वना देते हुए श्री वेदव्यास ने परामर्श दिया—"जैसे पानी के बुलबले पानी में ही उत्पन्न होकर कुछ समय के बाद उसी में लवलीन हो जाते हैं, वैसे ही प्राणी मात्र का पहले संयोग और फिर वियोग हुआ करता है। संचित वस्तु अन्त में नष्ट हो जाती है, उन्नति के पश्चात् अवनति होती रहती है इसी प्रकार जन्म के पश्चात् मृत्यु होती है।"[2]

बौद्ध विचारधारा में नश्वरता पर बहुत बल दिया गया है। बौद्ध साहित्य में उल्लेख है—"सभी जीव मरणशील हैं, एक न एक समय उनका मरना अवश्यम्भावी है। जैसे कुम्हार के कच्चे-पक्के जितने घड़े हैं, सभी फूट जाने वाले हैं, ठीक उसी प्रकार सभी प्राणियों के जीवन का मृत्यु में ही अन्त होना है। उनके पुण्य व पापमय कर्मों के अनुसार ही उनकी गति होनी है।"[3] इस उद्धरण से स्पष्ट होता है कि बौद्ध साहित्य में अनित्यता के सिद्धान्त का समर्थन किया गया है।

अनित्यता के सन्दर्भ में नश्वरता एवं क्षणभङ्गुरता दो पक्ष हैं। उनमें से क्षणभङ्गुरता का बौद्ध मत में विशेष समर्थन है, उसके अनुसार प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण बदलती है। जगत् में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है, जो हमें इन भौतिक चक्षुओं से

1. धम्मपद, 14 बुद्धवग्गो, 190-192, 12-14
2. शान्ति०अ०27, श्लो०28,29 (भण्डारकर सं०)
3. संयुत्त निकाय, भाग 1 खण्ड 1, सगाथावर्ग, परिच्छेद 3 कोसल संयुत्त, 3-3,2 अय्यका सुत्त।

प्रतीत नहीं होता। अनित्यता के सम्बन्ध में बौद्ध साहित्य में एक अन्य स्थान पर सब पदार्थों को अनित्य तथा दुःखमय कहा गया है। जब मनुष्य प्रज्ञा से देखता है तब वह भौतिक जगत् से विरक्त हो जाता है।[1] साथ ही सभी संस्कार अनित्य हैं, उत्पन्न होना और लय हो जाना उनका स्वभाव है। पैदा होकर वे गुजर जाते हैं उनका पूर्णतया शान्त हो जाना ही परमपद है।[2]

नित्यता और अनित्यता में से अनित्यता पर दोनों में बल दिया गया है, जैसे जगत् की नश्वरता पर महाभारत में अनित्य जगत् के अतिरिक्त आत्मा एवं ब्रह्म व ईश्वर की नित्यता स्वीकार की गई है। इस विषय में हम आत्मा एवं ईश्वर के प्रकरण में विभिन्न उद्धरण दे चुके हैं। बौद्ध मत में अनित्यता के साथ कहीं-कहीं नित्यता का संकेत भी मिलता है। इस सम्बन्ध में दीघनिकाय का यह प्रकरण उल्लेखनीय है। वहाँ कहा गया है कि श्रमण और ब्राह्मण चार कारणों से लोक को अंशतः नित्य और अंशतः अनित्य मानते हैं। बहुत वर्ष बीतने पर एक समय लोक का प्रलय होता है, प्रलय होने पर ब्रह्मलोक के निवासी मनोमय, प्रीतिमय, प्रभावान् और अन्तरिक्षचर दीर्घ काल तक रहते हैं। उस लोक का प्रलय होने पर शून्य ब्रह्म विमान पैदा होता है। तब प्राणी आयु और पुण्य के क्षीण होने पर आभास्वर ब्रह्मलोक से गिरकर ब्रह्मविमान में उत्पन्न होता है। वहाँ पहले उत्पन्न हुआ स्वत्व अपने को ब्रह्मा, सर्वद्रष्टा, कर्ता तथा होने वाले प्राणियों का पिता समझता है। तब कोई प्राणी वहाँ से च्युत होकर यहाँ पैदा होता है। यहाँ घर से बेघर जो साधु हो जाता है, वह चित्त समाधि में पूर्व जन्म का स्मरण करता है और समझता है कि ब्रह्मा द्वारा हम लोग निर्मित किए गए हैं। वह नित्य, शाश्वत है हम अनित्य एवं मरणशील हैं। इस प्रथम कारण से आत्मा और लोक को अंशतः अनित्य माना जाता है। दूसरा क्रीड़ा प्रदूषिक नामक देवों का उद्धरण दिया जाता है जो देव रमण क्रीड़ा में संलग्न रहने से क्षीण स्मृति हो जाते हैं, तथा शरीर से च्युत हो जाते हैं और यहाँ जन्म लेकर साधु हो जाते हैं। वे अनित्य एवं मरणशील हैं। जो देव क्रीड़ा प्रदूषिक नहीं हैं वे रमण क्रीड़ा में संलग्न नहीं होते, उनकी स्मृति क्षीण नहीं होती, फलतः वे शरीरों से च्युत नहीं होते, वे नित्य और ध्रुव रहते हैं। इस कारण आत्मा और लोक को अंशतः नित्य और अंशतः अनित्य माना जाता है। इसी प्रकार श्रमण और ब्राह्मण तर्कपूर्वक कहते हैं—चक्षु, श्रोत्र, नासिका और शरीर अनित्य हैं तथा चित्त, मन या विज्ञान नित्य और ध्रुव हैं। इन कारणों से श्रमण और ब्राह्मण आत्मा और लोक को अंशतः नित्य और अंशतः अनित्य मानते हैं।[3]

बौद्ध वाङ्मय में एक अन्य स्थान पर सान्त अनन्तवाद के विषय में ऊहापोह

---

1. धम्मपद, 20 मगवग्गो, गाथा 277-279।
2. संयुत्त निकाय, 1 सगाथावर्ग, 1 देवता संयुत्त, नन्दन वर्ग, नन्दन सुत्त।
3. दीघ निकाय 1 सीलक्खन्ध वग्ग, 2-2 पृ०7-8

किया गया है कि जहाँ समाहित चित्त वाला श्रमण या ब्राह्मण अनुभव करता है कि यह लोक सान्त और परिछिन्न हैं, वहाँ लोक के अनन्त होने की कल्पना भी कर सकता है।[1]

शान्तिपर्व में एक स्थान पर उल्लेख है—"सर्दी, गर्मी, सुख-दुख आदि काल के प्रभाव से ही प्राप्त होते हैं तथा समयानुसार फिर नष्ट हो जाते हैं। मृत्यु का समय आने पर ओषधि, मन्त्र, जप आदि मनुष्य का परित्राण करने में समर्थ नहीं होते। जैसे महासागर में दो काष्ठ के टुकड़े विभिन्न दिशाओं से आकर एक स्थान पर मिल जाते हैं फिर अलग हो जाते हैं। उसी प्रकार प्राणियों का भी समय के अनुसार संयोग-वियोग होता रहता है। माता, पिता, स्त्री, पुत्र आदि का सम्बन्ध भी अनित्य है। जिस प्रकार मार्ग में जाते हुए पथिकों का थोड़े समय के लिए पारस्परिक मिलन होता है, उसी प्रकार स्वजनों की सङ्गति भी अस्थिर समझनी चाहिए।"[2]

महाभारत और बौद्ध धर्म दोनों में अनित्यता के सम्बन्ध में समानता प्रतीत होती है। शान्तिपर्व में उल्लेख है कि रार्जषि जनक की जिज्ञासा का उत्तर देते हुए महर्षि पंचशिख ने कहा—"जन्म-मरण की निवृत्ति नहीं है, उसकी व्यवस्था भी नहीं है। सर्वभूतों का विनाश सदा ही स्रोत में प्रकट हो रहा है। नौकारहित कालसागर में जिसे भासमान देखा जाता है वही डूबता है। जरा-मृत्युरूपी महाग्राह से पकड़े जाने पर कोई नहीं लौटता।"[3]

जीवन की नश्वरता के विषय में बौद्ध विचारधारा भी इसी प्रकार मुखर है। संयुत्त निकाय के एक पूरे सूक्त में बुद्ध ने अपने अनुयायियों को रूप वेदना आदि पंच-स्कन्धों की अनित्यता के विषय में कहा है। रूप वेदना आदि से दुःख अनात्म की जानकारी होती है – इस यथार्थ को जान कर श्रावक निर्वेद प्राप्त कर वैराग्य के माध्यम से विमुक्त हो जाता है।[4]

इस प्रकार पूरे प्रकरण के आधार पर अनित्यता व नश्वरता के सिद्धान्त की दृष्टि से महाभारत एवं बौद्ध विचारधारा में समानता कही जा सकती है।

काल

महाभारत में स्थान-स्थान पर काल अथवा समय विषयक चर्चा की गई है। शान्तिपर्व के अध्याय 224 और 227 (सातवलेकर सं०) में सभी पर काल के प्रचण्ड

---

1. दीघ निकाय 1 सीलक्खन्ध वग्ग, 2-3 पृ० 8-9।
2. शान्तिपर्व, अ० 28, श्लो० 34-39 (भण्डारकर)।
3. शान्ति० अ० 307, श्लोक 6-7 (भण्डारकर सं०)
4. संयुत्त निकाय, खण्ड 3, अविच्च सुत्त

प्रभाव का उल्लेख है। एक अन्य स्थल पर सुख-दुःख,जरा-मृत्यु, लाभ-हानि आदि द्वन्द्व 21 गुण रूप से कहे गए हैं। ये सुख-दुःख प्रकृति के कार्य हैं, इन गुणों से भी महान् गुण काल है। उसी में सब भूतों की उत्पत्ति और अन्त होता है।[1]

काल शब्द का कहीं मृत्यु तथा कहीं समय अर्थ में प्रयोग किया गया है।

यदि समय अनुकूल नहीं है तो विद्या और बुद्धि के उपयोग से धन प्राप्ति सम्भव नहीं है। समय अनुकूल होने पर एक मूर्ख व्यक्ति भी धन प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार समय प्रतिकूल होने पर वैज्ञानिक यन्त्र और ओषधियाँ फलप्रद नहीं होतीं।

शान्ति पर्व में एक स्थान पर मन से बड़ी बुद्धि और उससे बड़ा काल बताकर अन्त में विष्णु भगवान् को काल से महान् कहा गया है।[2]

काल के महत्त्व के विषय में बौद्ध साहित्य में उल्लेख है कि काल या समय से पीड़ित व्यक्ति को जो अपना कर्मफल भोग रहा है—विद्या, तप, दान, मित्र और बान्धव भी बचाने में समर्थ नहीं हैं।[3]

सब स्थानों पर केवल काल को ही महत्त्व न देकर कहीं-कहीं जहाँ काल तथा कर्म का प्रसङ्ग होता है वहाँ कर्म पर अधिक बल दिया गया है। काल को उसका साक्षी मात्र कहा गया है। शान्तिपर्व में कहा गया कि काल या समय माता-पिता बन्धु-बान्धव किसी का मित्र साथी नहीं है। वह सब प्राणियों के किए हुए कर्मों का साक्षी मात्र है। जीवों के किए हुए कर्म ही भविष्य में सुख तथा दुःख के रूप में परिणत होते हैं।[4]

बौद्ध मत में काल एवं कर्म के भेद के प्रसङ्ग में यद्यपि काल का स्पष्ट नाम नहीं लिया गया, तथापि अल्पायु व दीर्घायु कहने से काल या समय का ही बोध होता है और वहाँ भी कर्म पर बल दिया गया है जैसा कि निम्न उद्धरण से प्रतीत होता है—

प्राणियों की अल्पायु-दीर्घायु, कुरूप-रूपवान्, दरिद्र-धनवान्, निर्बुद्धि-प्रज्ञावान् आदि विभिन्न अवस्थाओं के लिए प्राणी के कर्म ही कारण हैं। बुद्ध का मन्तव्य है कि प्राणियों की हीनता-उत्तमता को कर्म ही विभक्त करता है। सुनति या दुर्गति का पाना

---

1. शान्ति० अ० 320, श्लोक 108 (सातव० सं०)
   अ० 308, श्लोक 109 (भण्डारकर सं०)
   देखिए आदिपर्व 245-46।
2. शान्ति० अ० 206, श्लोक 11,12 (सातवलेकर)
   अ० 199, श्लोक 11,12 (भण्डारकर)
   देखिए गीता अ० 10, श्लोक 30
   अष्टाध्यायी 3,3,167।
3. मज्झिम० 3,4,5, चूलकम्मविभंग सुत्तन्त।
4. शान्ति० अ० 34, श्लोक 5,7 (भण्डारकर सं०)

इस प्रकार कर्म के शुभ या अशुभ होने पर निर्भर कहा गया है।[1]

एक रूपकात्मक कथा महाभारत के अनुशासन पर्व में दी गई है, जिसमें काल और कर्म के पारस्परिक सम्बन्ध और महत्त्व को दिखाया गया है। "एक धर्मात्मा बुढ़िया ब्राह्मणी गौतमी के पुत्र को साँप ने डस लिया। शिकारी साँप को पकड़ लाया।" साँप ने कहा बालक की मृत्यु मेरे कारण नहीं, बल्कि मृत्यु ने मुझे माध्यम बनाया। "तब मृत्यु ने स्वयं प्रकट होकर कहा कि न तो साँप और न वह लड़के की मृत्यु के दोषी हैं, अपितु काल ही दोषी है, क्योंकि जो कुछ भी घट रहा है वह काल के कारण है, मृत्यु काल का माध्यम मात्र है। इतने में काल ने स्वयं प्रकट होकर कहा कि लड़का अपने कर्म के कारण ही मरा है। जैसे प्रकाश और छाया का साथ रहता है, उसी प्रकार कर्म और कर्ता भी साथ रहते हैं।[2]

महाभारत में काल-चक्र की महत्ता के विषय में कई कथाएँ दी गई हैं, जिनमें काल के विभिन्न रूपों की चर्चा है। "एक शिकारी महावन में झाड़ियों एवं लताओं से ढके कुएं में गिर गया और अन्दर टहनियों में अटक कर लटक गया। कुएँ के बीच में एक काला अजगर लटक रहा था, 6 सूंडों और 12 पैरों वाला हाथी उस कुएँ की ओर बढ़ रहा था। अन्दर पेड़ की डाल में शहद का छत्ता था, जिससे शहद चू रहा था, उसे शिकारी पीने लगा, तथा अटकी हुई डाल को काले-सफेद चूहे काटने लगे।" महाभारत में इस कहानी को रूपक के ढंग से लिया गया है। जंगल संसार है, दुनिया में निवास करने वाले प्राणी शिकारी हैं, कुआँ प्राणियों का शरीर है। कुएँ के बीच में रहने वाला अजगर काल है, वृक्ष की लताएं मनुष्य की आशाएँ हैं। 6 सूंडों, 12 पैरों वाला हाथी वर्ष है, उसमें 6 ऋतुएँ हैं और 12 महीने होते हैं। चूहे रात और दिन तुल्य हैं और शहद की बूंदें इन्द्रिय-सुख हैं।[3]

इस रूपक में काल के तीन रूप दिखाए गए हैं। 12 पैरों वाले हाथी के रूप में 12 महीनों का वर्ष अर्थात् समय (काल) बढ़ रहा है, काला अजगर काल के रूप में मुँह बाये है, चूहों के रूप में काल हमारी आयु को समाप्त कर रहा है।

काल के सम्बन्ध में एक अन्य कथा शान्तिपर्व में दी गई है। "एक ब्राह्मण का इकलौता लड़का मर गया था। बालक के सम्बन्धी श्मशान में भी उसको अपने से पृथक् नहीं करना चाहते थे। उस समय वहाँ एक गीध उड़कर आया, उसने कहा कि एक बार काल का शिकार बन जाने पर कोई प्राणी वापस नहीं लौटता। काल समय या भाग्य ही नहीं होता वह मृत्यु का नियामक भी होता है। कुछ धैर्य रखकर वे सम्बन्धी घर की ओर लौटने लगे, तो एक सियार वहाँ आया और उन्हें धिक्कारने लगा कि उन्हें अपने बच्चे

---

1. मज्झिम०, 3, 4, 6 महाकम्मविभंगसुत्तन्त
2. अनुशासन पर्व, अ० 1।
3. स्त्रीपर्व अ० 138,139 (गीता प्रेस)

से प्यार नहीं है इसीलिए वे उसे इतनी जल्दी छोड़कर वापस जा रहे हैं। उसके कहने से वे लोग जब फिर श्मशान जाने लगे तो गीध ने फिर कहा कि व्यक्ति का भला-बुरा उसके अपने कर्मों पर निर्भर होता है। काल ही उनका नियन्त्रण करता है, मृत्यु पर अभियोग निरर्थक है। वहाँ से फिर घर की ओर चलने पर सियार ने बच्चे से स्नेह रखने का अनुरोध कर काल से संघर्ष करने को कहा। वस्तुतः सियार और गीध दोनों मृत देह का लोभ कर रहे थे। अन्त में पार्वती के अनुरोध पर शिव जी ने बच्चे को पुनः जीवित कर दिया।"[1]

इस कथा में काल के तीन रूप दिखाए गए हैं। सर्वप्रथम काल को समय या भाग्य कहने के साथ-साथ मृत्यु का भी नियामक कहा गया है। मनुष्य का भला-बुरा उसके कार्यों पर निर्भर है, पर कर्मों का भी नियामक काल कहा गया है। दूसरी ओर यदि मन में सच्चा व दृढ़ स्नेह हो तो मनुष्य काल से भी संघर्ष कर सकता है। तीसरा पक्ष यह है कि अन्ततः काल के नियामक शिव जी कहे गए हैं। इससे पूर्व भी एक उद्धरण में विष्णु को काल से बड़ा कहा गया है, यहाँ शिव को काल का नियामक कहा गया है। शान्तिपर्व में यद्यपि काल के महत्त्व पर बल दिया गया है, तथापि अन्ततोगत्वा भगवान् को उसका नियन्ता कहा गया है। साथ ही काल को बलवान् बताते हुए भी सच्चे प्रेम से उस पर विजय प्राप्त की जा सकती है यह संकेत भी दिया गया है।

बौद्ध साहित्य में काल एवं मृत्यु से भयभीत न होने की कई कथाएँ हैं। उरग जातक में एक गृहस्थ की कथा है, जिसका पुत्र साँप के डसने से मर गया था। पिता, माता, बहन, पत्नी में से कोई न रोया। माँ ने अपने शोक न करने का कारण बताते हुए कहा— "बिना बुलाए आया था, बिना आज्ञा के चला गया, उसके लिए शोक क्यों ? पत्नी व बहन ने भी अपने कर्मों के कारण काल को भेंट हुए के लिए शोक न करने की बात कहीं।[2] इस कहानी के माध्यम से बोधिसत्त्व ने यह शिक्षा दी कि मरण स्मृति की भावना करो, अपने मरण का विचार करो। जिस प्रकार साँप अपनी केंचुली छोड़कर चला जाता है, उसी प्रकार प्राणी अपना शरीर छोड़कर चला गया है।

अननुसोचिय जातक में ऐसी तरुणी भार्या की कथा है जिसके मृत हो जाने पर उसके ब्राह्मण पति ने शोक न कर कहा—"यदि मृत्यु के लिए ही शोक करना है तो चलते-फिरते हर समय आयु का क्षय होता रहता है। हरेक का काल-ग्रस्त होना संशय रहित है, ऐसी स्थिति में सभी मरणधर्मा प्राणियों पर दया करनी चाहिए और जो बीत जाए, उस पर क्या शोक किया जाए ?"[3] इस कथा द्वारा काल की अवश्यम्भाविता एवं क्षण-क्षण घटने पर बल दिया गया है।

---

1. शान्ति पर्व अ० 153 (सातवलेकर सं०) अ० 149 (भण्डारकर सं०)
2. जातक, खण्ड 3 परिच्छेद 5, 354 उरगजातक पृष्ठ 324।
3. जातक, खण्ड 3, परिच्छेद 4, 3 कुटिदूसक वर्ग
   328 अननुसोचिय जातक, पृ० 259।

उद्यम

शान्तिपर्व में कर्म के सन्दर्भ में पुरुषार्थ की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। एक स्थान पर उल्लेख है कि उद्योग के अभाव में केवल भाग्य या प्रारब्ध के सहारे राजाओं के कार्य सिद्ध नहीं होते। भाग्य और पुरुषार्थ समान होने पर मैं पुरुषार्थ को श्रेष्ठ समझता हूं, क्योंकि पुरुषार्थ लोगों को प्रत्यक्ष फल देता है, दूसरी ओर भाग्य किए गए भूतकालीन पुरुषार्थ का ही फल मात्र है।—देवताओं ने अपने पुरुषार्थ से ही अमृतलाभ करके असुरों को मारा था और इन्द्र अपने उद्योग से ही तीनों लोकों में प्रसिद्ध होकर स्वर्गलोक के शासक बने थे।"[1]

बौद्ध साहित्य में भी कर्मपूर्वक जीवित रहने की महत्ता स्थान-स्थान पर प्रदर्शित करते हुए **न सेवेय्य पमादेन** प्रमाद युक्त न रहे, **उत्तिट्ठे न प्पमज्जेय्य**[2] उत्थानशील बने, कभी आलसी प्रमादी न बने। आलस्य मृत्यु के तुल्य है, पुरुषार्थ या अप्रमाद अमृत के तुल्य है। बुद्धिमान् मनुष्य उद्योग में संलग्न रहते हैं तथा अपने अप्रमाद गुण की इस प्रकार रक्षा करते हैं, जिस प्रकार श्रेष्ठ धन की की जाती है।[3] इस प्रकार विभिन्न उद्धरणों से प्रतीत होता है कि शान्तिपर्व एवं बौद्ध साहित्य दोनों में ही मनुष्य के लिए उद्योगशील बने रहने पर बल दिया गया है।

भाग्य

महाभारत में भाग्य के विभिन्न रूपों का विवेचन उपलब्ध होता है। पहले रूप में मनुष्यों के द्वारा किए गए कर्मों के जो फल भोगने पड़ते हैं, वही उनका प्रारब्ध या भाग्य बन जाता है। इसमें मनुष्य के भाग्य का प्रमुख आधार उसके कर्म होते हैं, इस प्रकार इसका सीधा सम्बन्ध कर्म-सिद्धान्त से है। एक सामान्य मनुष्य अपनी इन्द्रियों को सांसारिक विषयों से पृथक् नहीं कर पाता, अतः वह कुछ-न-कुछ कर्म करता रहता है। फलतः जीव अपने किए कर्मों के कारण जन्म-मरण के चक्र में फंसा हुआ विभिन्न योनियों मे चक्कर लगाता रहता है। इस प्रकार कर्म सिद्धान्त का सम्बन्ध पुनर्जन्म की कल्पना से माना जाता है।

कर्म के तीन रूप होते हैं—पहला हमारे भूतकाल के किए हुए संचित कर्म,

---

1. शा० अध्याय 58, श्लोक 12 से 18 (भण्डारकर)
2. धम्मपद, 13 लोकवग्ग 167-1, 168-2
   देखिए—कठोपनिषद्—उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
3. धम्मपद, 2 अप्पमादवग्गो 21-1, 30-10।

जिनका फल अभी भोगा नहीं है। दूसरे वर्तमान काल में किए जाते हुए संचयमान कर्म, और तीसरा रूप वह है जब हमारे इन संचित और संचयमान कर्मों का फल भोगना शुरू हो जाए, तब वह प्रारब्ध कहलाता है।

भाग्य का दूसरा रूप वह है जिसमें कर्म करना तो मनुष्य के हाथ में है, पर उसका फल देना ईश्वर के हाथ में माना जाता है। इसके लिए गीता में कहा गया है—"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।" भाग्य का तीसरा रूप वह लिया जाता है जिसमें कुछ हिस्सा मनुष्य का कर्म बनाने वाला है, कुछ हिस्सा ईश्वर के हाथ में माना जाता है, क्योंकि ईश्वर प्राणियों की गतिविधि का नियमन करने वाला है। तथा भाग्य का चौथा रूप वह लिया गया है कि जो कुछ विधाता ने बना दिया वही किसी का भाग्य बन जाता है जो मिटाया नहीं जा सकता। जिसके लिए कहा जाता है कि विधि के विधान को कोई नहीं बदल सकता। शान्तिपर्व में दिए गए विभिन्न उदाहरणों में भाग्य के इन विविध रूपों की प्रतीति होती है।

महाभारत के संग्राम में अपने सम्बन्धियों एवं ज्येष्ठ भ्राता कर्ण की मृत्यु से दुःखी युधिष्ठिर को अर्जुन ने परामर्श दिया—"व्यक्ति को बीती बातों के लिए शोक नहीं करना चाहिए। जो होनहार या भवितव्य होता है वह अवश्य होकर रहता है। कोई भी प्राणी अपने प्रारब्ध का अतिक्रमण करने में समर्थ नहीं है।"[1] इसमें भाग्य का वह रूप लिया गया है जो कर्म-फल के रूप में भोगना पड़ता है। उसी को प्रारब्ध नाम दिया गया है, जिसका उल्लंघन नहीं किया जा सकता।

एक अन्य स्थल पर कहा गया है—"सुख-दुःख होने पर व्यक्ति को अभिमान रहित होकर उनका मुकाबला करना चाहिए, क्योंकि प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ उपस्थित होता है वह अपरिहार्य होता है। उस अटल स्थिति को रोका नहीं जा सकता।"[2] यहाँ किसी भी परिस्थिति में मनुष्य को पुरुषार्थ से मुकाबला करना चाहिए, इस वर्णन में भी कर्म करके उसका फल भोगने की बात कही गई है। इस प्रकार भाग्य या प्रारब्ध पर बल दिया गया प्रतीत होता है।

एक अन्य प्रसङ्ग में कहा गया है—"यह निश्चयपूर्वक जान लेना चाहिए कि जो होनहार है वह अवश्य होता है। किसी प्रकार उसमें अन्यथा या परिवर्तन नहीं हो सकता।"[3] महाभारत में होनहार के अपरिहार्य होने की बात कई स्थानों पर है। कहीं वह कर्म के आधार पर, कहीं वह ईश्वरकृत है—यह संकेत मालूम होता है।

शान्तिपर्व में विभिन्न स्थलों पर भवितव्य, प्रारब्ध एवं भाग्य तथा अकर्मण्यवाद की चर्चा की गई है। युद्ध में हुए संहार से दुःखी युधिष्ठिर को श्री वेदव्यास ने परामर्श दिया—"कोई पुरुष केवल कर्मों या यज्ञ कार्यों से कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता और न किसी को दान दे सकता है। विधाता के नियत किए हुए समय पर ही मनुष्य सब वस्तुएँ

1. शान्ति० अ० 22, श्लोक 14-15 (भण्डारकर सं०)
2. शान्ति० अ० 28, श्लोक 16 (भण्डारकर सं०)
3. शान्ति० अ० 31, श्लोक 41 (भण्डारकर सं०)

प्राप्त कर सकते हैं।"[1] यहाँ भाग्य का वह रूप लिया गया है जिसमें कर्म को छोड़ दिया है, केवल विधाता ही सब करने वाला है ऐसा कहा गया है।

इसी पर्व में देव की प्रबलता के विषय में मङ्कि ऋषि का उपाख्यान दिया गया है। "मङ्कि ऋषि ने बहुत परिश्रम से जोड़े धन से गाय के दो बछड़े खरीदे। एक दिन उन्हें सधाने के लिए वह जुए में जोत कर चला। रास्ते में एक ऊंट बैठा था, वे उसे बीच में करके एकदम दौड़े। जब उन दोनों की ऊंट की गर्दन से रगड़ लगी तो ऊंट को बहुत गुस्सा आया। वह एकदम खड़ा होकर उन्हें गर्दन के दोनों ओर लटका कर दौड़ पड़ा। इस प्रकार उस उन्मत्त ऊंट द्वारा बछड़ों के अपहरण तथा मरण को देखकर निराश हुए मङ्कि ऋषि ने कहा कि मनुष्य कितना भी चतुर क्यों न हो, किन्तु यदि उसके भाग्य में नहीं होता तो प्रयत्न करने पर भी उसे धन नहीं मिल सकता। यह दैव की ही लीला है। यदि कभी कोई पुरुषार्थ सफल होता दिखाई देता है तो वह भी दैव का ही किया जान पड़ता है।"[2] यहाँ मनुष्य के कर्म को गौण बताकर केवल दैव या विधाता ही सब करने वाला है यह कहा गया है।

इस प्रकार शान्तिपर्व में विभिन्न उद्धरणों के द्वारा भाग्य के विविध रूपों का विवेचन उपलब्ध होता है।

बौद्ध विचारधारा में कर्मवाद और पुनर्जन्म का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। उनके अनुसार मनुष्य जन्म, वृद्धावस्था, रोग और मृत्यु के चक्र से उसी अवस्था में बच सकता है, जब कि वह अपने पूर्वसंचित, संचयमान एवं भावी संस्कारों को नष्ट कर दे। एक स्थान पर उल्लेख है--"रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के होने से यह मिथ्या दृष्टि उत्पन्न होती है कि अच्छे और बुरे कर्मों के कुछ फल नहीं होते। बल, वीर्य, पौरुष व पराक्रम कुछ नहीं है। सभी प्राणी अवश, एवं भाग्य या दैव के अधीन होकर स्वभाववश सुख-दुःख का अनुभव करते हैं।"[3]

बौद्ध विचारधारा के अनुसार इस प्रकार मिथ्यादृष्टि के ही कारण व्यक्ति दैववाद अथवा भाग्यवाद के चक्कर में पड़ता है। अच्छे-बुरे कर्मों का तदनुसार फल भोगना पड़ता है—यह तथ्य मनुष्य भूल जाता है।

इस प्रकार महाभारत में जहाँ भाग्य के विभिन्न रूपों का विवेचन किया गया है वहाँ बौद्ध साहित्य में भाग्य का विवेचन न करके दैववाद को मिथ्यादृष्टि का परिणाम कहा गया है।

---

1. शान्ति० अ० 25, श्लो० 5 (सातवलेकर सं०), अ० 26, श्लो० 5
2. शान्ति० अ० 177, श्लो० 4-13 (सातवलेकर सं०)
   अ० 171, श्लो० 5-13 (भण्डारकर सं०)
3. संयुत्त निकाय 1, परिच्छेद 3, 23 दृष्टि संयुत्त, स्रोतापत्ति वर्ग, 7
   दैववाद।

यज्ञ

महाभारत के विभिन्न पर्वों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि तत्कालीन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य प्रतिदिन सन्ध्या एवं यज्ञ किया करते थे। सन्धि-वार्ता के लिए हस्तिनापुर जाते हुए श्रीकृष्ण का प्रातः सायं सन्ध्या करने का वर्णन है। भारतीय योद्धा युद्ध के दिनों में भी प्रातः स्नान तथा सन्ध्या-वन्दन के पश्चात् ही रणभूमि में मोर्चे पर डटते थे। प्रातः सायं सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय सूर्य की उपासना का वर्णन भी महाभारत में उपलब्ध होता है। स्तुति उपासना के वर्णन के साथ यज्ञ का वर्णन भी मिलता है। विभिन्न प्रसङ्गों से यह ज्ञात होता है कि उन दिनों प्रत्येक आर्य अपने घर में अग्नि प्रतिष्ठित करना अपना कर्त्तव्य समझता था। महाभारत में ही राजसूय एवं अश्वमेध यज्ञ किए जाने के वर्णन हैं।

शान्ति पर्व में कहा गया है—गृहस्थियों द्वारा किए यज्ञकर्म से ज्ञान की वृद्धि होती है। पशुओं एवं धनधान्य से सम्पन्न होकर भी जो गृहस्थ यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान नहीं करता वह वस्तुतः पाप का ही भागी होता है।"[1] यज्ञ-परम्परा किसी व्यक्तिगत व पारिवारिक स्वार्थपूर्त्ति के लिए नहीं थी, वरन् उसका अस्तित्त्व धन के सदुपयोग, शुभ कार्यों एवं परोपकार निमित्त किया जाता था। इसी उदात्त लक्ष्य की पूर्त्ति के लिए शान्ति पर्व के 20वें अध्याय में धन की सुरक्षा एवं यज्ञों के अनुष्ठान का विधान किया गया है।

सभी वर्णों को बिना किसी भेदभाव के यज्ञ करने का अधिकार कहा गया है। प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण श्रद्धा एवं पवित्रता से यज्ञ करना चाहिए। परोपकार की भावना से किए यज्ञ से सबका कल्याण होता है।[2] शान्ति पर्व में वैज्ञानिक दृष्टि से भी यज्ञ परम्परा का वर्णन किया गया है। "अग्नि में दी हुई आहुति सूर्य तक पहुंचती है, सूर्य तक पहुंचे हुए वाष्प से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न तथा अन्न से प्रजा की अभिवृद्धि होती है।"[3]

बौद्ध परम्परा में यज्ञों में की जाने वाली पशु-बलि का विरोध करने के कारण सम्भवतः यह धारणा प्रचलित हो गई कि बौद्धों ने यज्ञों का खण्डन किया है, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। कुछ प्रकरण ऐसे मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि महात्मा बुद्ध ने यज्ञ का खण्डन किया है, जैसे एक स्थान पर कहा गया है कि महात्मा बुद्ध ने एक बार सुन्दरिक भारद्वाज ब्राह्मण को कहा—"आग में अन्न न जला कर किसी योग्य पात्र को

---

1. शान्ति॰ अ॰ 12, श्लो॰ 21, 22 (भण्डारकर सं॰)
2. शान्ति॰ अ॰ 60, श्लो॰ 51 (भण्डारकर सं॰)
3. शान्ति॰ अ॰ 255, श्लो॰ 10-11 (भण्डारकर सं॰)

उसका दान देना चाहिए। यज्ञ के समय किसी ज्ञानी व्यक्ति को आहुति मिल जाए तो मेरी दृष्टि में यज्ञ सफल हो जाता है।"[1]

किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। बौद्ध साहित्य में यज्ञ का समर्थन करने वाले प्रकरण भी हैं। "एक बार कोसलराज प्रसेनजित द्वारा आयोजन किए गए महायज्ञ में यज्ञ के खूंटों में सैकड़ों भेड़-बकरियाँ बंधी देखकर प्राणिनाश की आशंका से लोग बहुत दुःखी थे। इस समाचार को सुनकर महात्मा बुद्ध ने कहा—अश्वमेध पुरुषमेध आदि यज्ञ फल-हीन हैं, पशु हिंसा वाले यज्ञ को महर्षि यज्ञ नहीं मानते हैं। अहिंसा युक्त तथा परोपकार की भावना से किया गया यज्ञ ही सच्चा यज्ञ है, उसी से कल्याण होता है। वह यज्ञ महान् होता है, तथा उससे देवता प्रसन्न होते हैं।"[2]

केवल बौद्ध मत में ही नहीं, अपितु इसकी समानता में शान्ति पर्व में भी उल्लेख किया गया है कि प्राणि-बलि वाला यज्ञ यज्ञ नहीं है, धान्य से यज्ञ करना चाहिए, बीजों का ही नाम अज है। यज्ञ में पशु का वध उचित नहीं है।[3] एक अन्य स्थान पर यज्ञ में सुरा-आसव, मधु-माँस आदि वस्तुओं को धूर्तों के द्वारा प्रचलित किया हुआ कहा गया है।[4] तथा एक गौ के माध्यम से घृत-दूध-दही आदि द्वारा पशु-हिंसा रहित यज्ञ से गोयज्ञ कार्य सिद्ध होने का भी उल्लेख है।[5] इस प्रकार शान्ति पर्व में भी कई स्थानों पर यज्ञों में हिंसा का प्रयोग अनुचित कहा गया है।

शान्तिपर्व में न केवल यज्ञों में पशु-बलि का विरोध किया गया, बल्कि कहीं-कहीं सन्दर्भतः यज्ञों में पशु-बलि का समर्थन भी किया गया है।[6] जहाँ-जहाँ हिंसा का विरोध किया है, वहाँ बौद्धों से समानता कही जा सकती है। दूसरी ओर बौद्ध मत में किसी स्थल पर अग्नि में अन्न आदि की आहुति देने की अपेक्षा सुपात्र को दान देने की बात कही गई है, तथा दूसरे स्थल पर पशु-बलि न देते हुए अहिंसापूर्ण यज्ञ का औचित्य कहा गया है। इन विभिन्न उदाहरणों से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बौद्ध विचारधारा में यज्ञ को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया। महाभारत में यज्ञों के विधि-विधान का विस्तार से वर्णन उपलब्ध होता है। युधिष्ठिर के द्वारा किए गए राजसूय यज्ञ का विशेष वर्णन है जिसमें श्रीकृष्ण का विशिष्ट अतिथि के रूप में सत्कार किए जाने

1. सुत्त निपात, 30 सुन्दरिक भारद्वाज सुत्त 9-11
2. संयुत्त निकाय, खण्ड 1, सगाथा वर्ग, परिच्छेद 3, कोसल संयुत्त, 9 यज्ञसुत्त।
3. शान्ति० अ० 337, श्लो० 4, 5 (सातवलेकर सं०); अ० 324, श्लोक 4,5 (भण्डारकर सं०)
4. शा० अ० 265, श्लोक 9 (सातवलेकर), अ० 257, श्लो० 9 (भण्डारकर सं०)
5. शा० अ० 255, श्लो० 37-39 (भण्डारकर)
6. शा० अ० 12, श्लो० 21 (सातवलेकर)

का उल्लेख है क्योंकि महाभारत में जीवन की समग्रता को लेकर हर पहलू पर विचार किया गया है अतः उसमें विभिन्न दृष्टिकोण से यज्ञ की प्रशंसा की गई है, ऐसा कहा जा सकता है।

ज्ञान

महाभारत में जहाँ अन्य सभी विषयों की चर्चा है वहाँ ज्ञान का भी विस्तार से विवेचन किया गया है। धर्मशास्त्रों में जीवन के चारों पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का समावेश होता है। महाभारत में जहाँ कौरव कुल के दो विरोधी पक्षों के संघर्ष की कहानी वर्णित है, वहाँ इसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का भी वर्णन है। इसीलिए इस ग्रन्थ को धर्मशास्त्र के साथ अर्थशास्त्र और मोक्षशास्त्र भी कहा गया है। इसी प्रकार ज्ञान का विशद वर्णन होने से इसको ज्ञानशास्त्र भी कहा जा सकता है।

ज्ञान का महत्त्व महाभारत एवं बौद्ध मत दोनों में समान रूप से स्वीकार किया गया है। ज्ञान के द्वारा मोक्ष व निर्वाण-प्राप्ति के विषय में भी दोनों का समान मत है। ज्ञान क्या है—इस विषय में दोनों में भेद कहा जा सकता है। बौद्ध मत के अनुसार चार आर्य सत्यों को जानना ही ज्ञान है, संसार दुःखमय है—यह जान लेना यथार्थ ज्ञान है। महाभारत में ज्ञान का सम्बन्ध पहले सामान्य जीवन से बताते हुए, तदनन्तर स्वर्ग एवं मोक्ष से बताया गया है। साथ ही सब प्राणियों में एक ही आत्मा का रूप समझते हुए स्वार्थ भाव को त्यागकर परार्थ भाव को महत्त्व देना ही यथार्थ ज्ञान कहा गया है। वहाँ ज्ञान के सम्बन्ध में **वसुधैव कुटुम्बकम्** की सीख दी गई है। कहीं यह भी चर्चा है कि सम्पूर्ण जगत् केवल मेरा नहीं, अपितु सबका है अतः इसमें मोह नहीं रखना चाहिए,[1] यह भी ज्ञान का एक स्वरूप कहा गया है। इस प्रकार महाभारत में ज्ञान के विषय में विविध प्रकार से उल्लेख किए गए हैं।

शान्तिपर्व में एक स्थान पर उल्लेख है कि यज्ञ में जिस प्रकार स्रुवा, घृत आदि वस्तुएं वर्णित हैं, उसी प्रकार जीव-ब्रह्म की एकता रूपी साधन योग को स्रुवा, एवं चित्त को घृत रूप समझना चाहिए। सब प्रकार की शठता मृत्यु रूप और अनित्य है, सरलता ब्रह्मपद के तुल्य नित्य है यही ज्ञान का विषय है।[2]

बौद्ध विचारधारा में इस विषय में उल्लेख है—"महात्मा बुद्ध के मन में यह विचार पैदा हुआ कि सब प्राणी जन्म लेते हैं, वृद्ध होते हैं, मरते हैं, पुनः पैदा होते हैं, जीवन भर कष्ट भोगते हैं पर दुःखों से छूटने का उपाय नहीं जानते। वस्तुतः जन्म होने

1. शान्ति०अ० 26, श्लो० 19,20 (भण्डारकर सं०)
2. शान्ति०अ० 80, श्लो० 19,20 (भण्डारकर सं०)

से जरा-मरण होता है, भव-आवागमन के होने से जन्म, उपादान से भव, तृष्णा से उपादान, वेदना से तृष्णा, स्पर्श वेदना, षडायतन से स्पर्श, नाम रूप से षडायतन, विज्ञान से नामरूप, रूप के होने से विज्ञान होता है। तथा विज्ञान से संस्कार और संस्कार से अविद्या होती है। इसी क्रम से सब जन्म लेते हैं और इस चक्र में फंसे रहते हैं। यदि जन्म का निरोध होगा तो जरा-मरण का निरोध होगा, इस क्रम से अन्ततः विज्ञान, संस्कार तथा अविद्या का निरोध होगा। फलतः सबका मूल अविद्या अर्थात् अज्ञान ही है जिसके कारण प्राणी इस जन्म मरण के चक्र में फंसे रहते हैं और दुःख भोगते हैं। अविद्या निरोध अर्थात् ज्ञान प्राप्त होने से मनुष्य दुःखों से छूट कर मुक्त हो सकता है।"[1] इस प्रकार अन्ततः महत्व ज्ञान को ही दिया गया।

सच्चे ज्ञान से वह उपलब्धि होती है इस सम्बन्ध में शान्तिपर्व में लिखा है—

"समस्त प्रवृत्तियों के बीच वैदिक शास्त्र मोक्ष विषय के अनुष्ठान की शिक्षा देते हैं, वह मोक्ष का अनुष्ठान अपचय रहित सुख का अवलम्ब है। जो पुरुष ज्ञान का अनुसरण करता है उसके शम दम आदि के हेतु से उत्पन्न हुआ ज्ञान समस्त संसार के आवागमन के चक्र का निराकरण करता है।"[2] इसी के साथ केवल अभावों या त्याग का बाना पहनने से व्यक्ति मुक्त नहीं होता, बल्कि सच्चे ज्ञान से ही मुक्ति सम्भव है। इस सम्बन्ध में महाभारत में कहा गया है—"केवल अकिञ्चनता या अभाववृत्ति से मोक्ष नहीं होता। चाहे जीव अकिञ्चन हो अथवा किञ्चन, सच्चे ज्ञान के सहारे ही व्यक्ति मुक्त हो सकता है।"[3]

बौद्ध साहित्य में सब प्रकार के संस्कारों के निरोध का सच्चा ज्ञान मुक्ति के लिए एक आवश्यक मार्ग कहा गया है। दीघ निकाय में उल्लेख है—"मनुष्य जब एकाग्र, शुद्ध, निष्पाप, क्लेशों से रहित हो जाने के पश्चात् सच्चा ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है, तब उसको अनुभूति होती है कि मेरा यह शरीर पृथिवी, जल, तेज वायु आदि भूतों से बना है और नष्ट हो जाने वाला है। समाहित चित्त हो जाने के पश्चात् इस भौतिक शरीर के अतिरिक्त एक मनोमय शरीर का निर्माण होता है। तब व्यक्ति एकाग्र चित्त से अनेक प्रकार की ऋद्धियां प्राप्त कर लेता है। वह अन्य मनुष्यों और देवताओं के शब्द सुनता है। फलतः उसे दूसरों के चित्त का ज्ञान हो जाता है। तथा पूर्वजन्मों की बातों का स्मरण हो आता है और उसे दिव्य चक्षु की उपलब्धि हो जाती हैं। इसके परिणामस्वरूप उसे दुःख के कारण का ज्ञान हो जाता है। वह मनुष्य दुःखों से छूटने के मार्ग ब्रह्मचर्य एवं करणीय कार्य को जान लेता है, तथा आवागमन के चक्र

---

1. दीघनिकाय, 2 महावग्ग, 14-1 महाप्रदान सुत्त, 6-बुद्धत्व प्राप्ति।
2. शान्ति०अ० 261, श्लो० 45,46 (भण्डारकर सं०)
3. शान्ति०अ० 308, श्लो० 50 (भण्डारकर सं०)

से बच कर सच्चे ज्ञान की उपलब्धि से जीवन्मुक्त हो जाता है।"[1]

इस प्रकार शान्ति पर्व तथा बौद्ध-मत दोनों में ही सच्चे ज्ञान के महत्त्व पर बल देते हुए मोक्ष प्राप्ति के लिए ज्ञान-प्राप्ति को ही आवश्यक मार्ग कहा गया है।

बौद्ध साहित्य में हीनयान-महायान आदि कुछ शाखाओं की दृष्टि से तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध में विभिन्न विचारों का वर्णन है। जबकि महाभारत में वर्णित पाँचरात्र, सांख्य, योग, वेदान्त, पाशुपत आदि कई दार्शनिक विचारों का समावेश होने से विचारों की बहुरूपता, विविधता एवं विपुलता आ गई है। इससे उसका क्षेत्र अधिक विस्तृत है। बौद्ध मत में कुछ शाखाओं के ही विचारों का वर्णन होने से उसमें विचार-वैविध्य अधिक नहीं है एवं उसका दार्शनिक क्षेत्र अपेक्षाकृत संकुचित कहा जा सकता है।

पाञ्चरात्र

पाँचरात्र में सात्वत नाम से श्रीकृष्ण की भक्ति पर विशेष बल दिया गया है। निष्काम कर्म संयुक्त सत्व के सहारे पालन करने, पापहीन होने और पञ्चरात्र आदि ज्ञान से पूर्ण होने के कारण ऋषि गण उन्हें सात्वत कहते हैं। उन्हीं का नाम कृष्ण, बैकुण्ठ और अच्युत आदि है। पाञ्चरात्र दर्शन के अनुसार मूलभूत तत्त्व वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध क्रमशः परमात्मा, जीवात्मा, मन और अहङ्कार के चार स्वरूप ही चार व्यूह हैं। उन्हीं चार व्यूहों में मूलभूत तत्त्व समाए हुए हैं। शान्तिपर्व के दो अध्यायों[2] में चारों व्यूहों का विस्तृत व्योरा देने के बाद इस दर्शन का स्वरूप बताया गया है। वासुदेव परमात्मा और संकर्षण-जीव के पारस्परिक भेद का भी उल्लेख किया गया है। पृथिवी आदि पंचभूत क्रमशः एक दूसरे में लीन होते हुए अव्यक्त प्रकृति में तथा अन्त में प्रकृति पुरुष में लीन हो जाती है। तब वासुदेव के अतिरिक्त कुछ शेष नहीं रहता। यह समस्त विश्व

---

1. दीघनिकाय, 1 सीलक्खन्ध वग्ग, 2 सामंजफल सुत्त, 3 प्रज्ञा, 4 ज्ञान।
2. शान्ति०अ० 339 (सातवलेकर सं०)

    नरनारायणौ द्रष्टुं बदर्याश्रममाद्रवत्
    इदं महोपनिषद्चतुर्वेदसमन्वितम्। 111।

   शान्ति०अ०348 (सातवलेकर सं०)

    पुरुषः पुरुषं गच्छेन्निष्क्रियः पञ्चविंशकः।
    एवमेकं सांख्ययोगं वेदारण्यकमेव च। 81।
    परस्पराङ्गान्येतानि पाञ्चरात्रं च कथ्यते।
    एष एकान्तिको धर्मो नारायणपरात्मकः ॥ 82 ॥

वासुदेव का ही शरीर रूप है। परमात्मा और प्रकृति संहित रूप में संसार के कारण हैं। पाञ्चरात्र दर्शन की कुछ ऐसी ही मान्यता प्रतीत होती है।

सांख्य

'सम्यक् स्थानम्' अर्थात् सम्यक् विचार, यही विवेक बुद्धि भी कहलाती है। कोशकारों ने संख्यावान् को, सम्यक् विचार कर सके पण्डित कहा है। अविद्या के कारण आत्मा के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। सत्व, रजस्, तमोरूप त्रिगुणात्मिका प्रकृति त्रिगुणातीत आत्मा से पृथक् है, यह ज्ञान जीव को प्राप्त करना है।[1]

सांख्य विचारधारा के अनुसार प्रकृति के लिए सत्त्व, अव्यक्त, प्रधान तथा प्रकृति-ये 4 शब्द प्रयुक्त किए गए हैं। सत्त्व गुण का सम्बन्ध सुख से और रजोगुण का सम्बन्ध दुःख से है। दोनों का सम्बन्ध तमोगुण से हो जाने पर ये अव्यावहारिक हो जाते हैं। आनन्द, प्रकाश, सन्तोष आदि सत्त्वगुण के चिह्न हैं, अहंकार, काम-क्रोध, द्वेष आदि रजोगुण के चिह्न हैं तथा मोह, अज्ञान, मलिनता, असन्तोष आदि तमोगुण के चिह्न कहे गए हैं।

सृष्टि उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रकृति के 24 तत्त्व गिनाए गए हैं। प्रकृति से महत्, महत् से अहङ्कार क्रमशः पाँच तन्मात्राएँ, पंच महाभूत, 10 इन्द्रियां और मन। अव्यक्त से सब भूत पैदा होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं। पच्चीसवाँ तत्त्व महानात्मा क्षेत्र (प्रकृति) में अधिष्ठाता के रूप में निवास करता है।[2]

चेतन तत्त्व के लिए साँख्य में जीव, भूतात्मा पुरुष, क्षेत्रज्ञ आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। प्रकृति एक और पुरुष अनेक कहे गए हैं।[3] पुरुष के साथ-साथ प्रकृति का अस्तित्व अनादि काल से चला आया है। पुरुष का बिम्ब प्रकृति पर पड़ता है, जिससे प्रकृति अपने को चेतन की तरह समझने लगती है। प्रकृति के साथ पुरुष के इसी कल्पित तथा आरोपित सम्बन्ध को बन्धन कहते हैं। इस बन्धन को दूर करना, पुरुष का अपने आप को पहचानना, प्रकृति को अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाना ही विवेक-बुद्धि है। ज्ञान के द्वारा अविद्या का नाश होने पर प्रकृति और पुरुष एक प्रकार से अपने स्वरूप को पहचान लेते हैं। यही ज्ञान विवेक बुद्धि को उत्पन्न करता है।

---

1. देखिए गीताभाष्य 13-24
2. शाति०अ० 291-37 (भण्डारकर सं०), अ० 294-27,28,35 (भण्डारकर)

    पञ्चविंशतिनो विष्णुर्निस्तत्त्वस्तत्त्वसंज्ञकः।
    तत्त्वसंश्रयणादेतत्तत्वमाहुर्मनीषिणः॥
3. शान्ति० अ० 301, श्लो० 12 (भण्डारकर सं०)

विवेक बुद्धि प्राप्त होने से पुरुष अपने स्वरूप को पहचान लेता है और अपने को निर्लिप्त एवं निस्सङ्ग समझने लगता है तथा कैवल्य को प्राप्त हो जाता है। परन्तु प्रारब्ध कर्मों तथा पूर्व जन्मों के संस्कारों के विद्यमान रहने से उसी समय शरीर का पतन नहीं हो जाता। भोग की पूर्ति होने पर ही संस्कारों का भी नाश होगा, तब शरीर का पतन तथा विदेह कैवल्य की प्राप्ति होती है। "जब तक संस्कार हैं, तब तक जीवन्मुक्ति की अवस्था में जीव रहता है। घर बनने के पश्चात् कुम्भकार का चक्र पहली शक्ति के आधार पर देर तक घूमता रहता है, उसी प्रकार शरीर भी पहले के कर्म-विपाक के शान्त न होने तक चलता रहता है।"[1]

सांख्य के मतानुसार प्रकृति स्वतः परिणामिनी है, उसे किसी चेतन की सहायता की आवश्यकता नहीं है। साम्यावस्था में प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न कर सृष्टि को आरम्भ करने के लिए यद्यपि चेतन की आवश्यकता है, किन्तु वह चेतन उस स्थिति में भी निर्लिप्त और निष्क्रिय ही है। यद्यपि वहां 'ज्ञ' नाम से पुरुष का वर्णन है, पर ईश्वर के अस्तित्व के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता।

सांख्य की व्याख्या में भीष्म ने नारायण को प्रकृति से ऊंचा निर्द्वन्द्व परम तत्त्व स्वीकार किया है। मनुष्य पाप-पुण्य से मुक्त होकर इस निर्गुण निर्विकार नारायण रूप में एकाकार होकर संसार में नहीं लौटता। सनातन ब्रह्म को अनादि, अनन्त, कर्त्ता कहा गया है। इसी से सृष्टि और प्रलय रूप विकार पैदा होते हैं।[2] इससे प्रतीत होता है कि महाभारत में सांख्य तत्त्व का विवेचन करते हुए परम तत्त्व को ब्रह्म के नाम से स्वीकार किया गया है।

योग

चित्तवृत्ति के निरोध को ही योग कहा जाता है।[3] जब तक शरीर, इन्द्रिय तथा मन साधक के वश में नहीं आते तब तक तत्त्वज्ञान एवं दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती। योगदर्शन में चित्त की वृत्तियों तथा उनके निरोध के उपायों का विश्लेषण किया गया है।

सांख्य शास्त्र में सृष्टि की उत्पत्ति का मुख्य रूप से विवेचन किया गया है। सांख्य की भूमि में सभी व्यापार बुद्धि या महत् तत्त्व के द्वारा होते हैं और बुद्धि का वास्तविक ज्ञान योग से ही होता है। तथा चेतन (चित्) और प्रकृति इतने सूक्ष्म हैं कि बिना योग की सहायता से उनका आभास भी नहीं मिल सकता। साथ ही सांख्य में

1. सांख्यकारिका 66
2. शान्ति०अ० 290, श्लो० 74,75,91,92,97 (भण्डारकर सं०)
3. 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' योगसूत्र 1-2।

चित्तवृत्तियों का विचार नहीं है, इसके ज्ञान के बिना सांख्य के तत्त्वों का रहस्य समझ में नहीं आ सकता। इस प्रकार सांख्य के रहस्य को समझने के लिए दुःखनिवृत्ति के सूक्ष्म उपायों को जानने के लिए एवं परम पद के मार्ग में अग्रसर होने के लिए योग-दर्शन का अध्ययन आवश्यक कहा जाता है। महाभारत के एक भाग गीता में सांख्य योग को एक ही कहा गया है—"**सांख्य योगौ पृथक् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः**। शान्तिपर्व में ही एक स्थान पर इन दोनों को एक रूप कहा गया है।[1]

योगदर्शन में पाँच प्रकार की चित्तवृत्तियां—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति- कही गई हैं। इन वृत्तियों का निरोध अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा बताया गया है। निरोध- जो समाधि का एक भेद है—की दो अवस्थाएँ कही गई हैं, संप्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। जब चित्त किसी एक वस्तु पर एकाग्र होने लगता है, तब उसकी वही एकमात्र वृति जाग्रत रहती है, अन्य वृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं। उसी एक वृत्ति में ध्यान लगाने से प्रज्ञा का उदय होता है। इस समाधि में कोई न कोई आलम्बन रहता है, इसको सबीज व सम्प्रज्ञात समाधि कहा गया है। जब सब वृत्तियां परम वैराग्य से निरुद्ध हो जाती हैं, आलम्बन का अभाव हो जाता है, संस्कार मात्र शेष रह जाते हैं, उस समाधि को असम्प्रज्ञात समाधि कहा गया है।

चित्त अविद्या से आच्छादित रहता है, उसमें मिथ्या ज्ञान और भ्रान्ति होती है। अतः चित्त को विशुद्ध करने के लिए मिथ्या ज्ञान का नाश करना आवश्यक है। मिथ्या ज्ञान से ही क्लेश होते हैं। क्लेशों से मुक्त होने एवं चित्त को समाहित करने के लिए योग में-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि-इन आठ अङ्गों का अभ्यास करना आवश्यक कहा गया है। इनके अभ्यास से चित्त स्थिर होता है, उसके पश्चात् वैराग्य के उदय होने से संप्रज्ञात समाधि, तदनन्तर असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त दृढ़ हो जाता है। वैराग्य के उदय होने से तृष्णा का अन्त हो जाता है। योग के अभ्यास से योग में विघ्न रूप अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उनसे भी योगी को विरक्त होने का निर्देश दिया गया है। ये सिद्धियाँ साधक को आगे बढ़ने में विघ्न देती हैं।

योग दर्शन के अनुसार विवेक ज्ञान भी सत्त्वगुण का धर्म हैं, वह भी बन्धन का कारण होने से त्याज्य है। इसके पश्चात् क्लेश के कारणों के नष्ट हो जाने पर पुरुष को आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक दुःखों से मुक्ति मिलती है और फिर गुणों से आत्यन्तिक वियोग हो जाता है, इसे ही कैवल्य कहते हैं, यही योग की मुक्ति है।

चित्त की स्थिरता के लिए जिन आठ अंगों का वर्णन किया गया है उनमें से नियम में ईश्वर प्रणिधान पर योग में विशेष बल दिया गया है। इस प्रकार योगशास्त्र में

---

1. यदेव योगाः पश्यन्ति तत्सांख्यैरपि दृश्यते
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स तत्त्ववित्।
शान्ति० अ० 304, श्लोक 4।

ईश्वर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ईश्वर य प्रणव के जप एवं उसके अर्थ की भावना करने से ही चित्त द्वारा एकाग्रता प्राप्त करने का निर्देश है।[1] क्लेश, कर्म वासनाओं से रहित पुरुष विशेष का नाम ईश्वर कहा गया है—**"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष-विशेष ईश्वरः"**। वहां ऐश्वर्य-सम्पन्न, मुक्त एवं सर्वज्ञ कह कर ईश्वर का स्पष्ट उल्लेख है।

योगदर्शन में समाहित-चित्त होकर ईश्वर के चिन्तन से सात्त्विक बुद्धि के निर्मल होने का उल्लेख है। तथा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति में होने वाले विघ्नों का नाश ईश्वर के ध्यान से होता है। इसलिए चित्त को समाधिस्थ कर मुक्त होने के लिए ईश्वर का चिन्तन बहुत ही उपयुक्त साधन माना गया है।

महाभारत के शान्तिपर्व के अध्याय 300 (सातवलेकर सं०) में योग के सम्पूर्ण सिद्धान्त की विस्तार से चर्चा की गई है। वहाँ इसी प्रकार यम-नियम आदि का पालन करके योगी को किसी ऐसे स्थान पर बैठने का निर्देश है जहाँ मन स्थिर हो सके। उसी स्थिति का पुनः-पुनः अभ्यास करते हुए समाधिस्थ होने एवं मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न करने को कहा गया है।

वेदान्त

वेदान्त का अर्थ वेदान्त दर्शन तथा उपनिषद् दोनों से लिया जाता है। इस तत्त्वज्ञान के उपदेष्टा अपान्तरतमा नामक आचार्य कहे गए हैं। वेदान्त में कर्मकाण्ड तथा स्वर्ग को तुच्छ मानकर उस पराविद्या को श्रेष्ठ माना गया है जिसके अनुसार सम्पूर्ण संसार ब्रह्म से उत्पन्न होता है, उसी में निवास करता है और उसी में लय हो जाता है। दूसरे शब्दों में सारा संसार ब्रह्ममय ही है 'सर्व खल्विदं ब्रह्म'।

वेदान्त में अद्वैतवाद, द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद आदि के नाम से विभिन्न विचारधाराएँ उपलब्ध होती हैं। अद्वैतवाद के प्रचारक शङ्कराचार्य का मत है कि ईश्वर अपनी माया से जगत् का निर्माण करता है। वस्तुतः जगत् का अस्तित्व ही नहीं है। संसार न उत्पन्न होता है और न लय को प्राप्त होता है। जो कुछ हमें दिखाई देता है वह आभास मात्र है। सब कुछ मिथ्या है। प्रलय काल में ईश्वर अपनी माया को समेट लेता है। सब कुछ ब्रह्म ही है।

द्वैतवाद के प्रचारक माध्वाचार्य ने ब्रह्म और आतमा का अलग-अलग अस्तित्व माना है। उनके मतानुसार प्रलय के अन्त में परमात्मा को सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा होती है। तब वह प्रकृति के अन्दर प्रवेश कर उसे कार्योन्मुख करता है। उसके पश्चात् सत्त्व रजस् आदि तीनों गुणों में वैषम्य उत्पन्न होता है तथा परमात्मा महत् से लेकर

1. योगभाष्य, 1-28।

ब्रह्माण्ड पर्यन्त तत्त्वों की सृष्टि करता है। ज्ञान के विषय में उनका मत है कि आत्मा का मन के साथ, मन का इन्द्रिय से तथा इन्द्रिय का अपने विषय के साथ संयोग होता है। तब अन्तःकरण का परिणाम होता है। इसी परिणाम को ज्ञान कहते हैं। ज्ञान से इच्छा तथा इच्छा से प्रवृत्ति होती है। इस मत में भक्तिपूर्वक कीर्तन, जप आदि को मोक्ष-प्राप्ति का कारण कहा गया है। मोक्ष परमात्मा के अधीन कहा गया है, जब परम भक्ति उत्पन्न होने से भगवान् का अनुग्रह होता है तब प्रकृति, अविद्या आदि से मोक्ष मिलता है।

विशिष्टाद्वैत के प्रचारक रामानुजाचार्य ने ईश्वर, चित् और अचित् ये तीन मूल-तत्त्व माने हैं। इनमें ईश्वर प्रधान अंगी है और चित् अचित् इसके दो विशेषण या अङ्ग कहे गए हैं। चित् तत्त्व जीवात्मा है, ईश्वर इसका नियामक है। अचित् तत्त्व जड़ तथा विकारवान् है। चित् तथा अचित् दोनों ईश्वराश्रित हैं। इस मत के अनुसार ईश्वर अपनी इच्छा से सारे जगत् का कारणस्वरूप है, संसार को उत्पन्न करने, तथा संहार करने का एक मात्र प्रयोजन भगवत् लीला है। यही ईश्वर स्वयं जगत् रूप में परिणत हो जाता है। ईश्वर तथा नित्य जीवों का ज्ञान नित्य है तथा बद्ध जीवों का ज्ञान तिरोहित रहता है। ज्ञान को स्वतः प्रमाण माना गया है। भक्ति तथा प्रपत्ति का विशेष स्थान है, इसी से प्रसन्न होकर ईश्वर मोक्ष देते हैं। कर्मयोग और ज्ञानयोग आदि भी भक्ति के ही द्वारा मोक्षसाधक हैं। प्रपत्ति को शरणागति भी कहा गया है।

इस प्रकार वेदान्त के प्रसङ्ग में उसके भिन्न-भिन्न आचार्यों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण सामने आते हैं। सृष्टि-उत्पत्ति के सम्बन्ध में वेदान्त सूत्रों में बादरायण ने कहा है कि परमेश्वर लीला से जगत् का खेल खेलता है **लोकवत्तु लीला कैवल्यम्**। पर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर के लिए सामान्य मनुष्यों के समान खेल खेलने की बात अन्य दार्शनिकों को मान्य न हुई।

महाभारत में वेदान्त दर्शन के इन विभिन्न आचार्यों के मत कहाँ तक मान्य हैं-इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि एक ओर गीता में श्रीकृष्ण द्वारा **सम्भवाम्यात्ममायया** तथा सब प्राणियों को अपने में समेट लेने की उक्ति से प्रतीत होता है कि वहाँ मायावाद का समर्थन किया गया है। पर इसके साथ ही शान्ति पर्व में ईश्वर के लिए सर्वज्ञ, सर्वव्यापक दयालु आदि विशेषणों के साथ यह भी कहा गया है कि वह सब प्राणियों को न्याय दर्शन के अनुसार अपने-अपने कर्मों का फल देने वाला है। कहीं सृष्टि उत्पत्ति के प्रकरण में सांख्य के 24 तत्त्वों का वर्णन है। कहीं मोक्ष प्राप्ति के लिए योग के आठ अङ्गों का विवेचन किया गया है। इससे कहा जा सकता है कि महाभारत में चूँकि जीवन के विभिन्न दृष्टिकोणों को लिया गया है अतः उसमें सब दर्शनों के सिद्धान्तों का समावेश किया गया है।

पाशुपत

महाभारत में सांख्य, योग, वेदान्त, पाञ्चरात्र के समान पाशुपत नामक तत्त्व-

ज्ञान की भी चर्चा की गई है। शान्तिपर्व के 349 अध्याय (सातवलेकर सं०, अध्याय 337 भण्डारकर सं०) में पाशुपत मत का उल्लेख है। इस मत के आराध्यदेव शङ्कर हैं। शान्तिपर्व के 284वें अध्याय (सातवलेकर सं०) में दक्ष द्वारा शङ्कर-स्तुति की गई है। दक्ष के यज्ञ में हविर्भाग न मिलने से शङ्कर और पार्वती को क्रोध आया। शङ्कर ने वीरभद्र नामक गण उत्पन्न कर दक्ष का यज्ञ ध्वस्त करा दिया। उस समय अग्नि में से शङ्कर पैदा हुए, तब दक्ष ने 1008 नामों से शङ्कर की आराधना की। उस अवसर पर शङ्कर ने दक्ष को पाशुपत व्रत बतलाया। शिव ने कहा—"यह व्रत गूढ़ होने पर भी अपूर्व है। इसे सब आश्रमों और वर्णों के लोग अपना सकते हैं तथा इससे मोक्ष प्राप्ति भी सम्भव है। जो व्यक्ति चारों आश्रम छोड़ चुके हैं उनके लिए भी यह आचरण करने योग्य है।"[1]यहाँ यह भी उल्लेख है कि जिस प्रकार सब देवताओं में शिव श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार सब स्तुतियों में दक्षस्तव उत्तम हैं।

इस मत के अनुसार सब देवों में श्रेष्ठ पशुपति ने ही सारी सृष्टि उत्पन्न की है। पशु का तात्पर्य सम्पूर्ण सृष्टि से लिया गया है। इसकी सगुण भक्ति के लिए कार्तिकेय, पार्वती और नन्दी देव भी सम्मिलित किए गए हैं। पञ्च महाभूत, सूर्य, चन्द्र और पुरुष ये अष्टमूर्ति शंकर हैं।

पाशुपत मत के अनुसार सब वर्णों को समान रूप से मोक्ष मिल सकता है, इसमें तपस्या की विशेष महत्ता है। शङ्कर की दक्षकृत स्तुति में दो नाम उल्लेखनीय हैं—शिव चराचर देवों से गोटों की तरह खेलता है इस कारण वह **चरुचेली** कहलाता है। वह कारणों का भी कारण है इसलिए वह **मिली-मिली** कहलाता है। भाषाविदों का कथन है कि ये दोनों शब्द संस्कृत मूल के न होकर द्रविड़ भाषाओं से सम्बद्ध मालूम पड़ते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि शिव के दो स्वरूप हैं आर्य तथा अनार्य। महाभारत काल में यह मत अधिक मान्य नहीं दिखाई पड़ता।

पाशुपत तत्त्वज्ञान के अनुसार जगत् के पांच कारण कहे गए हैं—कार्य, कारण, योग, विधि और दुःख। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए कुछ बातें आवश्यक कही गई हैं—एक अच्छे गुरु के पथ-प्रदर्शन में प्रगति। जैसा कि शान्तिपर्व के 236वें अध्याय में कहा गया है कि गुरु के निर्देशन में योगी जीव को पार्थिव देह से मुक्त कर सकता है। इस प्रकार इस मत के अनुसार योग के अवलम्बन एवं मुक्ति के लिए पहली आवश्यकता एक सद्गुरु की है। दूसरी आवश्यकता कही गई है कि निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन किया जाए। इन्हीं दोनों बातों पर बल दिया गया है। जहाँ अन्य तत्त्वज्ञान योग में प्रगति एवं मुक्ति के मार्ग के लिए त्याग एवं अहिंसा को आवश्यक कहते हैं वहाँ पाशुपत मत में इस बारे में निर्देश नहीं दिया गया है।

---

1. शान्ति०अ० 284, श्लो० 193, 194 (सातवलेकर सं०)

इस प्रकार शान्तिपर्व में जहाँ विभिन्न दर्शनों के तत्त्वज्ञानसम्बन्धी विस्तृत विचारों का समावेश है, तो बौद्ध साहित्य में उनकी शाखाओं के भिन्न विचारों का वर्णन है। प्रारम्भ में बौद्ध विचारधारा के दो भेद हो गए, एक महासांघिक और दूसरा स्थविरवाद। महासांघिकों ने तर्क को आधार माना, उनका विश्वास था कि प्रत्येक मनुष्य में बुद्धत्व प्राप्त करने की शक्ति स्वभाव से है। समय पाकर संयोग से प्रत्येक बुद्ध बन सकता है। स्थविरवादी परम्परावादी थे, वे रूढ़ि से हटना नहीं चाहते थे, उनके कथनानुसार बुद्धत्व प्राप्ति करने की शक्ति प्रत्येक में नहीं होती।

स्थविरवाद के हैमवन्त और सर्वास्तिवाद दो मुख्य भेद थे, कालान्तर में सर्वास्तिवाद के 9 भेद हो गए। इसी प्रकार महासांघिकों के भी 9 भेद हो गए। महासांघिकों ने स्थविरवादियों को हीनयान और अपने को महायान घोषित किया। समय के साथ-साथ इन मतों की भी कई शाखा-प्रशाखाएँ हो गईं। महात्मा बुद्ध के समय में ही 62 के लगभग दार्शनिक विचारधाराएँ प्रचलित थीं। दीघनिकाय में इनका विश्लेषण किया गया है।[1]

ये दार्शनिक विचारधाराएँ तत्कालीन श्रमणों और ब्राह्मणों में प्रचलित थीं। इनमें से 18 धारणाएँ लोक और आत्मा आदि सम्बन्धी पूर्वान्तकल्पिक थीं। तथा 44 लोक और आत्मा के अन्तःसम्बन्धी अपरान्त कल्पिक थी। पूर्वान्तकल्पिक धारणाएँ—1. शाश्वतवाद, 2. नित्यता अनित्यतावाद, 3. सान्त-अनन्तावाद, 4. अमराविक्षेपवाद और 5. अकारणवाद या अधीत्यसमुत्पाद इन 5 मतों में विभाजित की गईं। उनमें से चार का प्रामाण्य 4-4 धारणाओं से और पाँचवीं का दो धारणाओं से होता है। अपरान्तकल्पिक धारणाएँ भी पाँच मतों में विभक्त थीं और प्रत्येक की कई धारणाएँ थीं।

महात्मा बुद्ध ने इन सभी मतों का स्वीकारात्मक या निषेधात्मक किसी रूप में उत्तर नहीं दिया। उन्होंने आत्मा और लोक की आदि और अन्त सम्बन्धी समस्याओं को विचार करने की दृष्टि से निषिद्ध और अनर्थकारी बताया। तथा हेतु से उत्पन्न होने वाले धर्मों का हेतु तथा निरोध का मार्ग प्रदर्शित किया। महात्मा बुद्ध ने सत्य की प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण मतों का त्याग आवश्यक समझा। उन्होंने विवादरहित साधना के मार्ग पर प्रमादरहित होकर धर्मविनय में उद्योग करना आवश्यक कहा। उनकी दृष्टि में इसी मार्ग के अवलम्बन से आवागमन के चक्र एवं दुःख का निरोध सम्भव है।

यह कहा जा सकता है कि सांख्यदर्शन जिस लक्ष्य से प्रेरित है, लगभग वही लक्ष्य बौद्ध दर्शन का है। सांख्य विचारक दुःखमय अभिधान के निरोध के लिए जिज्ञासा आवश्यक मानते हैं। दुःख का सम्यक् निरोध उसी स्थिति में सम्भव है जब अविद्या के बीज दग्ध कर दिए जाएँ जिससे उनमें दुःख के अंकुर फिर पैदा ही न हो सकें। संसार और दुःख की भावनाएँ बौद्ध और सांख्य विचारधाराओं में एक जैसी प्रतीत होती

1. दीघनिकाय, प्रथम ब्रह्मजाल सुत्त।

हैं। सांख्य विचारक की धारणा है कि प्रकृति के धर्मों को पुरुष अपने में आरोपित न करे, बल्कि उनमें "मैं नहीं हूँ" "यह मेरा नहीं" की भावना करनी चाहिए। इसकी तुलना में महात्मा बुद्ध की उक्ति है—"रूप, वेदना संज्ञा, संस्कार आदि चाहे भूत भविष्य किसी भी काल का हो—वह न मेरा है, न वह मैं हूँ।"[1]

इससे कहा जा सकता है कि संसार दुःखमय है, दुःख का मूल अविद्या, ज्ञान की प्राप्ति दुःख का नाश, बुद्धि की समता से ज्ञान की प्राप्ति इन सब दृष्टिकोणों से सांख्य और बौद्ध दोनों में समानता है। ज्ञान की परिभाषा में दोनों में भेद कहा जा सकता है—सांख्य में आत्म-प्रकृति विवेक ही ज्ञान है, बौद्ध मत में चार आर्य सत्यों को जानना, अनात्म बुद्धि व निर्विकल्पकता को ज्ञान कहा गया है।

सांख्य का साधना पक्ष योग है। योग दर्शन में चित्त को समाहित करने के लिए योग के 8 अङ्गों का अभ्यास करना आवश्यक कहा गया है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। उसी प्रकार महात्मा बुद्ध ने मोक्ष प्राप्ति के लिए अष्टाङ्गिक मार्ग का उपदेश दिया—

सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सङ्कल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। इस दृष्टि से दोनों में समानता कही जा सकती है। मूल अन्तर दोनों में ज्ञान का है।

इसी प्रकार वेदान्त में शङ्कराचार्य के अद्वैतवाद और बौद्ध मत में नागार्जुन के शून्यवाद में केवल शाब्दिक अन्तर ही दिखाई देता है। व्यवहार एवं परमार्थ में दोनों के दृष्टिकोण समान प्रतीत होते हैं। दोनों की दृष्टि में संसार तुच्छ है, अविद्या का व्यामोह है, उस अविद्या के विनाश से ही परम तत्त्व की उपलब्धि हो सकती है।

मोक्ष

मोक्ष का अर्थ महाभारतकार के अनुसार अनिर्वचनीय आनन्द की स्थिति है। आत्मा का परमात्मा से तादात्म्य होना ही परम सुख है। बौद्ध मत में दुःखों से छूटना ही मोक्ष अथवा निर्वाण कहा गया है। शान्तिपर्व में मनुष्य को सर्वप्रथम अपने आश्रमोचित कर्त्तव्यों को पूरा करके तदनन्तर वैरागी होकर मोक्ष के लिए उन्मुख होना कहा गया है। वहाँ पर मोक्ष की स्थिति योग्य मनुष्य के लिए योग्य समय पर कही गई है। बौद्ध मत में संसार के हेय होने की वास्तविकता को समझ कर वैरागी होना उचित कहा गया है। इस मत में कोई भी मनुष्य विरक्त हो कर किसी भी अवस्था में मोक्ष के लिए उन्मुख हो सकता है। महाभारत में युधिष्ठिर को वैराग्य अपने भाई कर्ण की मृत्यु से उत्पन्न हुआ। पर उसके बन्धु-बान्धवों ने एवं गुरुजनों ने उस समय विरक्त होने से रोककर पहले राज-

1. संयुत्त निकाय, 21,5।

धर्म पालन करने पर बल दिया। अपने कर्त्तव्य पालन करने के पश्चात् ही अन्त में मोक्ष के लिए उन्मुख होने की सीख दी। इससे महाभारत में सब आश्रमों के कर्त्तव्य पूर्ण करने पर ही अन्त में मोक्ष के लिए उन्मुख होने के सिद्धान्त की पुष्टि होती है। जब कि सिद्धार्थ को किसी को भी मृत देखकर वैराग्य हो गया।

महाभारत में कुछ ऐसे उदाहरण हैं जिनमें गृहस्थी होते हुए, अनासक्तिपूर्वक अपने कर्त्तव्य पूर्ण करने के साथ-साथ ही मनुष्य द्वारा परम पद प्राप्त करने का उल्लेख है। साथ ही कहीं ऐसे उद्धरण भी उपलब्ध हैं जहाँ गृह-त्याग कर विरक्त होकर मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने का उल्लेख है। यहाँ मत से समानता प्रतीत होती है। जैसा कि शान्तिपर्व के मोक्ष धर्म प्रकरण में एक स्थान पर इस संसार की नश्वरता पर प्रकाश डालते हुए जगत् के प्रति मन में विरक्ति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया है और उल्लेख है कि "घर में रहने से मोक्ष नहीं मिलेगा।"[1]

मोक्ष-प्राप्ति के सन्दर्भ में एक दृष्टि यह मिलती है कि ज्ञान से विशुद्ध बुद्धि द्वारा मोक्ष-प्राप्ति के लिये प्रयत्न किया जा सकता है। अन्ततः वह बुद्धि भी शान्त हो जाती है अर्थात् आत्मा का परमात्मा से तादात्म्य हो जाता है। इस सम्बन्ध में इस पर्व में कहा गया है कि अज्ञान सहित दोषों का नाश हो जाने पर मनुष्य विशुद्ध चित्त होकर संसार से मुक्त हो जाता है। जिस प्रकार छेनी की धार लोहे की जंजीर काट कर नष्ट हो जाती है उसी प्रकार ध्यान संस्कृत बुद्धि तमोगुण जनित दोषों को नष्ट करके उनके साथ स्वयं भी शान्त हो जाती है।[2]

कहीं पर रजोगुण तमोगुण को नष्ट कर सत्त्वगुण से मन की शुद्धि होने का उल्लेख कर मुक्त होने के लिए सत्त्वगुण का होना ही उचित कहा गया है। "रजोगुण तमोगुण से मोह की उत्पत्ति होती है और उससे क्रोध लोभ आदि उत्पन्न होते हैं। इन सबका नाश करने से ही मनुष्य शुद्ध होता है, शुद्ध चित्त मनुष्य ही उस अक्षय एवं अव्यक्त परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है। इसके साथ ही शरीर ग्रहण करने से दुःख निश्चित है, शरीर में अभिमान करने से दुःख की वृद्धि होती है। अभिमान के त्याग से दुःख का अन्त होता है और जिसका दुःख दूर हो जाता है वही मुक्त होता है।[3] मन को वश में करने के लिए मनुष्य निष्काम कर्म करे, इससे रजोगुण, तमोगुण से छूट कर उत्तम गति प्राप्त कर सकता है।[4]

---

1 शान्ति० अ० 269, श्लो० 10 (सातवलेकर सं०;
अध्याय 261, श्लोक 9 (भण्डारकर सं०)।

2. शान्ति० अ० 205, श्लो० 27 (भण्डारकर सं०)

3. शान्ति० अ० 206, श्लो० 1,2,20,21 (भन्डारकर सं०)

4. शान्ति० अ० 207, श्लो० 28,29 (भण्डारकर सं०)

बौद्ध मत के अनुसार निर्वाण प्राप्ति के लिए प्रव्रजित होना एवं विषयों से पूर्णतया उपराम होना चाहिए। समस्त दुःख तृष्णा के कारण हैं। सर्वप्रथम तृष्णा एवं लोभ का क्षय करना चाहिए। तृष्णा का क्षय चित्त के दमन से होता है। मन-वाणी तथा शरीर से क्रोध का त्याग करना चाहिए। इन्द्रियों से संयमित होना चाहिए। बौद्ध मत की कल्पना में निर्वाण की स्थिति सामान्य जीवन के दुःखों से छूटना है तथा सिद्ध या अर्हत मनुष्य संशय रहित एवं अनासक्त होता है, वह पूर्ण एवं ज्ञानी कहा जा सकता है।

बौद्ध विचारधारा के अनुसार इसी जन्म में मोक्ष सम्भव नहीं है, स्वभावतः जिज्ञासा होती है कि इस जन्म में निर्वाण प्राप्त करना सम्भव नहीं है, क्योंकि सांसारिक काम-भोग अनित्य, दुःखपूर्ण एवं परिवर्तनशील हैं। उनमें परिवर्तन होते रहने से दुःख-दौर्मनस्य और उद्वेग होते हैं। इसके उत्तर में कहा जाता है कि जब यह आत्मा कामनाओं से पृथक् रहकर बुरी बातों को छोड़ कर विवेकपूर्वक प्रथम ध्यान करता है तब यह आत्मा इसी संसार में निर्वाण प्राप्त कर लेता है। यह भी मालूम होता है कि विचार में जो आत्मा बड़ा स्थूल प्रतीत होता है, वह आत्मा वितर्क और विचार के शान्त हो जाने पर आन्तरिक प्रसन्नता की उपलब्धि करता है और एकाग्रचित्त, वितर्क विचार रहित समाधिज एवं सुखकर दूसरे ध्यान को प्राप्त करता है। तीसरे प्रीति एवं विराग से उपेक्षा युक्त अनासक्त होकर विहार करता है, ज्ञानी पण्डितों से वर्णित सुख इसी काया से अनुभव करता है। इस प्रकार तीसरे ध्यान को प्राप्त करता है। इसी तरह सुख-दुःख के नष्ट हो जाने पर चौथे ध्यान को प्राप्त करता है। इन कारणों से इसी संसार में निर्वाण की प्राप्ति सम्भव है। इसी प्रसङ्ग में आगे कहा गया है—जो श्रमण ब्राह्मण 6 स्पर्शायतनों (विषयों) का स्पर्श करके वेदना अनुभव करते हैं उनकी वेदना का कारण तृष्णा, उपादान, भव, जन्म, जरा-मरण आदि उत्पन्न होते हैं। जब साधक विषयों के दोष आदि को जान लेता है तब उनसे तृष्णा आदि के नष्ट हो जाने पर भी उसका शरीर बना रहता है। इस स्थिति में वह जीवन्मुक्त हो जाता है···।[1]

इन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि शान्ति पर्व एवं बौद्ध विवरण में इस शरीर के रहते ही जीवन्मुक्त हो जाने का उल्लेख है। महाभारत में जीवन्मुक्ति के लिए रजोगुण और तमोगुण का अन्त आवश्यक कहा गया है तो बौद्ध विवरण में वेदनाओं, भवतृष्णाओं एवं स्पर्शायतनों का निवारण इस जीवन्मुक्ति के लिए अनिवार्य कहा गया है। महात्मा बुद्ध जीवन्मुक्त हो गए। महाभारत में जनक, शुकदेव, धर्मव्याध के जीवन्मुक्त हो जाने का उल्लेख है। दोनों विचारधाराओं में एक अन्तर भी कहा जा सकता है कि जहाँ महाभारत में गृहस्थ छोड़कर और गृह में रहकर दोनों ही अवस्थाओं में मुक्ति सम्भव है, वहाँ बौद्ध मत में गृह-त्याग से ही निर्वाण मिल सकता है।

शान्तिपर्व में एक स्थान पर उल्लेख है कि मुक्तावस्था में "न तो आत्मा का नाश

1. दीघनिकाय, 1 सीलक्खन्ध वग्ग, 1 ब्रह्मजाल सुत्त
प्रथम दृष्टधर्म निर्वाणवाद

होता है और न वह किसी विशेष आकार में परिणत होता है।"[1]महाभारत में आत्मा को अविनाशी मानते हुए आत्मा का साक्षात्कार (जिस स्थिति को परमानन्द भी कहा गया है) ही मोक्ष है। बौद्ध मत में आत्मा को मानने से साक्षात्कार का कोई प्रश्न ही नहीं है। वहाँ अनात्मवाद है, दुःख से छूटना ही मोक्ष है। दोनों के मत में यही विदेह-मुक्ति है। महायान वालों ने उसको सुख का नाम दिया है। इस दृष्टि से दोनों मतों में समानता कही जा सकती है। पर वह सुख क्या है इसका कोई उल्लेख नहीं है। निर्वाण के स्वरूप के विषय में दोनों मतों में कोई साम्य नहीं है।

बौद्ध मत में रूप वेदना आदि पंचस्कन्धों का मृत्यु के साथ अन्त हो जाता है, पर तदनन्तर आत्मा के शेष रहने का सिद्धान्त उन्हें मान्य नहीं हैं।

महाभारत में मिथ्या ज्ञान के कारण दुःखों की अनन्त सृष्टि मानी गई है। सच्चे ज्ञान से उनके प्रति ममता छोड़ने पर दुःखों की परम्परा का अन्त हो जाता है, दुःखों का अन्त होने से परम आनन्द की प्राप्ति होती है। बौद्ध मत में दुःखों के अन्त की बात तो मानी गई है पर सुख-प्राप्ति की बात नहीं।

महाभारत में दिए गए विवरण के अनुसार जो लोग इस शरीर को ही आत्मा समझ लेते हैं वे मिथ्याज्ञान के कारण दुःख भोगते हैं। इसके विपरीत जो इस भौतिक शरीर को आत्मा न समझकर इसका यथार्थ स्वरूप जान लेते हैं, उन्हें इसके प्रति ममता नहीं रहती तथा वे दुःखों से भी छूट जाते हैं। शास्त्रों में भोगों का त्याग करने के लिए व्रत, दैहिक सुखों के त्याग के लिए तप और सर्वस्व त्याग के लिए योग के अनुष्ठान का निर्देश दिया गया है। सर्वस्व त्याग से ही दुःखों से छुटकारा सम्भव है, तभी मोक्ष मिल सकता है। उस अवस्था में मृत्यु के पश्चात् जब उपाधि का त्याग हो जाता है तब जीव की विशेष संज्ञा कैसे सम्भव है? जीव जब इन बन्धनों से छूट कर सुख-दुःख की चिन्ता छोड़ देता है उस समय लिङ्ग शरीर का अभिमान छोड़कर मुक्ति मिल जाती है।[2]

इस सन्दर्भ में यदि जीव शब्द आत्मा के अर्थ में हो तो अनात्मवाद का संकेत मिलता है। यद्यपि अनात्मवाद विशेष रूप से बौद्धों का दृष्टिकोण है तथापि इस उद्धरण से महाभारत में उसके लिए भी स्थान कहा जा सकता है। पर अधिकतर जीव शब्द प्राणी के अर्थ में प्रयुक्त होता है, अतः पूर्णतया इससे अनात्मवाद नहीं कहा जा सकता।

बौद्ध साहित्य के ग्रन्थ सुत्तनिपात मे रागक्षय, द्वेषक्षय, मोहक्षय को ही निर्वाण कहा गया है। यथा चक्षु विशेष रूप है उससे तृष्णा होती है, तृष्णा से दुःख का समुदय होता है, इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न होने वाली तृष्णाओं से दुःख होता है। तृष्णा के निरोध से दुःख का निरोध होता है, दुःख के निरोध से जाति क्षीण होती

---

1. शा० अ० 212, श्लो० 6,7 (भण्डारकर सं०)
2. शा० अ० 212, श्लो० 14, 15, 18, 42, 44 (भण्डारकर सं०)

होती है। ब्रह्मचर्य पूर्ण हो जाता है फलतः जन्म-मरण के चक्कर से मुक्ति हो जाती है।[1] अतः राग आदि के न होने से ये तृष्णा आदि नहीं होंगे, तभी दुःख नहीं होगा। दुःख का नाश ही मोक्ष है। अतः इन तीनों के नाश को मोक्ष कहा है।

महात्मा बुद्ध ने भिक्षुओं को निर्देश दिया है कि सभी संस्कार नश्वर हैं, अप्रमाद के साथ जीवन के लक्ष्य का सम्पादन करना चाहिए। उसके बाद वे प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ ध्यान में लीन हो गए। चतुर्थ ध्यान से उठते ही वे परिनिर्वाण को प्राप्त हो गए।[2] दूसरी ओर शान्तिपर्व में उल्लिखित योगदर्शन की विचारधारा में योग की सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात समाधि तथा इन दोनों के क्रमशः वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत, अस्मितानुगत, भव-प्रत्यय, उपायप्रत्यय—भेदों का जो वर्णन किया गया है, समाधि की इन अवस्थाओं तथा महात्मा बुद्ध के चारों ध्यान की अवस्थाओं में समानता कही जा सकती है।

शान्तिपर्व में भिन्न-भिन्न प्रकरणों में मोक्ष प्राप्ति के लिए भिन्न-भिन्न मार्गों का निर्देश दिया गया है। राजधर्म प्रकरण में राजा के द्वारा काम-क्रोध आदि से रहित होकर उचित रूप में प्रजा का पालन, दान तथा निग्रह आदि अपने कर्त्तव्यों को पूर्ण करने पर मोक्ष पद प्राप्त करने की चर्चा की गई है।[3] मोक्ष धर्म प्रकरण में काम क्रोध आदि दोषों का त्याग, इन्द्रिय-संयम तथा निष्काम योग आदि का आचरण मोक्ष प्राप्ति के लिए आवश्यक मार्ग कहा गया है।[4]

संयुत्त निकाय में निर्वाण प्राप्ति के लिए सम्यक् दृष्टि का अवलम्बन उचित कहा गया है। महात्मा बुद्ध ने भिक्षुओं से कहा कि जिस प्रकार गङ्गा नदी में बहता हुआ लकड़ी का टुकड़ा यदि दोनों किनारों में से किसी ओर न जाए, बीच में न डूबे, न भंवर में पड़े तो वह समुद्र में ही जाकर गिरेगा। उसी प्रकार यदि साधक संसार में दोनों ओर किसी पार न लगे, न बीच में डूबे तो वह निर्वाण में ही पहुँचेगा, क्योंकि सम्यक् दृष्टि निर्वाण तक ही जाती है। इस प्रकार उन्होंने स्पष्टीकरण किया—इस पार से अभिप्राय 6 आध्यात्मिक आयतनों से है, उस पार से तात्पर्य 6 बाह्य आयतनों से है। बीच में डूबना तृष्णा-राग आदि में फंसना है, भँवर में फँसना काम-क्रोध आदि में आबद्ध होना है आदि। इन सब अवरोधों में न फँस कर सम्यक् दृष्टि से मुक्त हुआ जा सकता है।[5]

सम्यक् दृष्टि बौद्ध मत में वर्णित अष्टाङ्गिक मार्ग का प्रथम सोपान है। अतः

---

1. सुत्तनिपात 4,4,34,2,2,2 मृगजाल सुत्त
2. सुत्तनिपात 5 परिनिर्वाण सुत्त (6-2-5) महापरिनिर्वाण
3. शान्ति०अ०66, श्लो०5-8,12,13,20 (भण्डारकर सं०)
4. शान्ति०अ०266, श्लो०15,17,19 (भण्डारकर सं०)
5. संयुत्त निकाय, 2 भाग षडायतन वर्ग, 4 पठम दासक्खन्ध सुत्त (34,4,4,4) सम्यक् दृष्टि निर्वाण तक जाती है।

सम्यक् दृष्टि के वर्णन से पूरे अष्टाङ्गिक मार्ग का ही संकेत प्रतीत होता है।

शान्तिपर्व के मोक्षधर्म पर्व में दो प्रकार के विचार उपलब्ध होते हैं। आश्रम व्यवस्था के अनुसार कर्त्तव्य कर्मों का पालन करते हुए भी उच्च लक्ष्य पाया जा सकता है। साथ ही त्याग और इन्द्रिय-दमन द्वारा सांसारिक जीवन से हटकर दान पर आश्रित रहते हुए आत्मिक उन्नति के लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है। पिता-पुत्र सम्वाद में व्यास ने बताया कि सच्चा ज्ञान प्राप्त करने वाला संसार को त्याग दे और आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करे। सांख्य वृत्ति को अपनाने वाला सब पदार्थों से हीन व्यक्ति सर्वोत्तम आनन्द पा सकता है। हारीत (अ॰286) ने एकान्तवासी का जीवन ऊंचा माना है। वह ऐसे घरों से भिक्षा माँगता है जब घर वालों ने भोजन समाप्त कर लिया हो, खेतों में अनाज का दाना शेष न रहा हो। शुक ने इसे त्याग की सीमा बताया।

इसके साथ ही मोक्षधर्म पर्व में प्रवृत्ति के तत्त्वों पर भी बल दिया गया प्रतीत होता है। यहाँ गृहस्थ-जीवन की भी महत्ता प्रदर्शित की गई है। व्यास (226-6) और पाराशर (284-39) ने मानव-जाति के प्रचलन में गृहस्थाश्रम का महत्त्वपूर्ण स्थान कहा है। पाराशर ने गृहस्थ की मर्यादा प्रतिष्ठित करते हुए कहा कि इसी आश्रम में स्थित हुआ मनुष्य देवताओं, बुजुर्गों और अतिथियों के प्रति अपने ऋणों से मुक्त हो सकता है। प्रवृत्ति-निवृत्ति के मतभेद को दूरकर जनक और तुलाधार के जीवन में सन्तुलित साँमजस्य स्थापित किया गया है। राज्य एवं तपस्या दोनों माध्यमों से ही मोक्ष का लक्ष्य पाने की बात कही गई है।

महाभारत के शान्तिपर्व में मोक्ष का वर्णन यद्यपि विशद रूप से किया गया है तथापि वहाँ त्याग, वैराग्य तथा मोक्ष ही सर्वोपरि नहीं कहे गये हैं। जीवन में यथासमय सब आश्रमों के कर्त्तव्यों का पालन करके अन्त में संन्यास लेने को कहा गया है। इसीलिए शान्ति पर्व में पहले राजधर्म, आपद् धर्म तदनन्तर मोक्षधर्म का वर्णन है। प्रत्येक का अपने-अपने स्थान पर महत्त्व है। राजा को राज्य छोड़कर मोक्ष लेने को नहीं कहा गया। पर बौद्ध विचारधारा में विरक्त होना, भिक्षु होना, मुक्त होना इन्हीं पर सबसे अधिक बल दिया गया है।

❋

उपसंहार

वैदिक काल में जीवन की व्यवस्थित प्रगति के लिए धर्म, अर्थ, काम के सन्तुलित निर्वाह पर बल दिया गया। वेदों की सीख है कि मनुष्य इस जीवन में अच्छे कार्य करके सुख भोगे। वहाँ अत्यन्त सुख एवं आनन्द की कामना की गई है। इसके साथ ही यह तथ्य भी स्पष्ट किया गया कि यह शरीर क्षणभंगुर है, सांसारिक विषयों की उपलब्धि के लिए मनुष्य जो प्रयत्न करता है वे सब नष्ट हो जाने वाले हैं। इसलिए मनुष्य को इस लोक के सुखों के साथ पारलौकिक सुख के लिए भी प्रयत्न करना चाहिए। फलतः वैदिक विचारधारा मुख्यतया प्रवृत्तिपरक दिखाई देती है। उपनिषदों के विचारकों ने जीवन का रहस्य सुलझाने के लिए ज्ञान का अवलम्बन सिखाया, अर्थात् मोक्ष के लिए ज्ञान की ज्योति प्रज्ज्वलित करने की सीख दी।

समय के साथ-साथ बौद्ध विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ। बौद्ध मत में मुख्य रूप से इस पर बल दिया गया कि संसार दुःखमय है। दुःख से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य को संसार से विरक्त होकर समाहित चित्त वृत्ति द्वारा निर्वाण की प्राप्ति करनी चाहिए।

महाभारत का महत्त्व इस दृष्टि से प्रतीत होता है कि इसके सिद्धान्तों के द्वारा यह निर्देश दिया गया कि जीवन केवल दुःखमय नहीं है बल्कि उसमें दुःख तथा सुख दोनों हैं। महाभारत जीवन की समग्रता का ग्रन्थ है, अतः उसमें सभी पहलुओं को विभिन्न दृष्टिकोण से स्पष्ट किया गया है। बौद्ध मत में जहाँ भिक्षु-वृत्ति अपना कर मोक्ष-प्राप्ति ही मनुष्य जीवन का लक्ष्य कहा गया, वहाँ महाभारत में मनुष्य को सब आश्रमों की मर्यादाओं का पालन करते हुए कर्त्तव्य-पालन की सीख दी गई। शान्तिपर्व के तीनों प्रकरण सिद्धान्तों, विचारों एवं उदात्त कल्पनाओं से परिपूर्ण हैं, तथापि प्रस्तुत विचारक्रम में हमने यह देखा कि उनके परामर्श में मनुष्य के लिए प्रवृत्ति मार्ग उचित है या निवृत्ति मार्ग, अथवा दोनों की अति को छोड़कर जीवन में सामंजस्य स्थापित करने की सीख दी गई।

महाभारत में जाति एवं वर्णव्यवस्था को स्वीकार किया गया, पर उसको जन्म

के आधार पर नहीं, बल्कि कर्म के आधार पर माना गया। इसी से उसमें मनुष्य के आचरण पर अधिक बल दिया गया। साथ ही मनुष्यों में भेदभाव न रखने के लिए **आत्मवत् सर्वभूतेषु पश्येत्** का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। महाभारत में इस पर बल दिया गया है कि समाज में रहकर मनुष्य का अस्तित्व है अत: वर्णव्यवस्था का समर्थन किया गया। बौद्धों ने जाति एवं वर्णव्यवस्था के भेदभाव का विरोध किया। उन्होंने सीख दी कि व्यक्ति की जाति की अपेक्षा उसके आचरण की अधिक महत्ता है।

आश्रम-व्यवस्था के सम्बन्ध में बौद्ध मत में भिक्षु-वृत्ति अपनाने पर बल दिया गया। इससे समाज में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ की अपेक्षा भिक्षु-जीवन की उच्च स्थिति प्रतिष्ठित हो गई, तथा सामाजिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई। महाभारत में चारों आश्रमों का यथासमय महत्त्व मानते हुए गृहस्थाश्रम को सर्वाधिक गौरव प्रदान किया गया। यही आश्रम अन्य सब आश्रमवासियों का पोषक है। साथ ही ऐसे उदाहरण भी हैं, जहाँ तीनों आश्रमों के कर्त्तव्यों का क्रमश: पालन करते हुए अन्त में संन्यास लेने की सीख दी गई है।

बौद्ध मत में कर्म को बन्धन का मूल माना गया है। इसीसे अन्ततः सांसारिक कर्म छोड़कर भिक्षु वृत्ति अपनाकर मोक्ष के लिए समाधिस्थ होने को कहा गया है। महाभारत में कर्म विषयक सभी विचार मिलते हैं। वहाँ कर्म से छुटकारा पाने या उसे बन्धन का मूल नहीं कहा गया। भाग्य के प्रकरण में कर्म को ही भाग्य बनाने वाला भी कहा गया है। सब स्थितियों में कर्म करने पर बल दिया गया है। महाभारतकार के अनुसार कर्म के आधार पर ही सारा संसार चल रहा है। यदि मनुष्य कर्म करना छोड़ दे तो यह चक्र छिन्न-भिन्न हो जाए। कर्म-त्याग उचित नहीं है। बौद्ध मत में मुक्ति के लिए कर्म-त्याग पर ही बल दिया गया।

बौद्ध धर्म में धर्म के दोनों पक्ष मिलते हैं, अपनी व्यक्तिगत उन्नति (जैसा हीनयान मतानुयायियों के विचार से प्रतीत होता है) और सबका कल्याण जैसा कि महात्मा बुद्ध के उपदेशों से तथा महायान शाखा की बोधिसत्त्व की कल्पना से स्पष्ट होता है। महाभारत में भी धर्म के ये दोनों पक्ष विद्यमान हैं। समाज के बहुसंख्यक वर्ग को निवृत्ति मार्ग पर चलने से रोकने के लिए महाभारत में जहाँ व्यक्तिगत उन्नति के लिए तप, स्वाध्याय, यज्ञ आदि का अनुष्ठान करने पर बल दिया गया, वहाँ सार्वजनिक उन्नति को धर्म का सच्चा स्वरूप कहते हुए उसे अपनाने की सीख दी गई। इस प्रसङ्ग में शान्तिपर्व में उल्लेख है कि मनुष्य जो अपने लिए अभिलाषा करे, वही उसे दूसरों के लिए भी करनी चाहिए। सब प्राणियों के कल्याण का वास्तविक मार्ग यही है कि किसी का अहित नहीं करना चाहिए। सङ्कट काल में भी सब के कल्याण में संलग्न रहना तथा प्राणिमात्र के प्रति अहिंसक रहना—यही सच्चा धर्म कहा गया है।

महाभारत के सिद्धान्तों के अनुसार सब की उन्नति में ही व्यक्ति को अपनी उन्नति समझनी चाहिए। धर्म की यह सीख कठिन धर्माचरण से सम्भव है। वह धर्म

वन में जाकर तप, समाधि से सम्भव नहीं, न ही वह घर में केवल व्यक्तिगत उन्नति में लगे रहने से मिल सकता है। **सर्वभूतहिते रतः** के मंत्र को अपना कर मनुष्य अपने धर्म का पालन कर सकता है, जब वह संकल्प करे कि उसे स्वर्ग नहीं चाहिए, अपवर्ग नहीं चाहिए, उसे तो दुःखों से परितप्त आर्त्त प्राणियों का कल्याण चाहिए।

सब मनुष्य प्रवृत्ति के मार्ग से दूर न होते हुए सच्ची भव-निवृत्ति की साधना करें—जीवन का यह सन्तुलन ही महाभारत में स्पष्ट किया गया है।

परिशिष्ट 'क'

शोध-प्रबन्ध में दिए गए कुछ महत्त्वपूर्ण उद्धरण

पृ० 3 । 3 धर्मशास्त्रमिदं पुण्यमर्थशास्त्रमिदं परम् ।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ।। म० भा० 1।22-23

पृ० 4 । 2 पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मना ।। भ० गी० 9।26

पृ० 10 । 1 अदीनाः स्याम शरदः शतम् ।
भूयश्च शरदः शतात् ।। यजुर्वेद 36।26

पृ० 11 । 1 चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।।
ऋग्वेद 1।115।1

पृ० 13 । 2 कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।। यजुर्वेद 40।2

पृ० 14 । 1 उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ।। यजुर्वेद 20।21

पृ० 14 । 2 वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे ।
प्रण आयूंषि तारिषत् ।। ऋग्वेद 10।186।1

पृ० 14 । 3 तेजोऽसि तेजो मयि धेहि,
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि,
बलमसि बलं मयि धेहि,
ओजोऽस्योजो मयि धेहि,
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि,
सहोऽसि सहो मयि धेहि ।। यजुर्वेद 19।9

पृ० 14 । 4 अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः ।
अथर्व० 19,12,1

पृ० 14 । 5 "मा भेर्मा संविक्था:" । यजुर्वेद 1।23

पृ० 14 । 6 यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ।। अथर्व 2।15।1

पृ० 15 । 1 अहमस्मि सपत्नहेन्द्र इवारिष्टो अक्षतः ।
अधः सपत्ना मे पदोरिमे सर्वे अभिष्ठिताः ।। ऋग्वेद 10 । 166 । 2

पृ० 16 । 1 लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि । मुण्डक उपनिषद् 2 ।2।3

पृ० 16 । 2 पराचः कामाननुयन्ति बाला-
स्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते । कठोपनिषद् 2,1,2

पृ० 16 । 3 द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्
ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च । तत्रापरा
ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा
कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति ।
अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ।। मुण्डक उप० 1,1, 4-5

पृ० 16 । 4 प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ।।
अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ।। मुण्डक उप० 1,2 7-8

पृ० 17 । 1 न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्ति ।
आत्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति ।
न वा अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति ।
आत्मनस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति ।
बृहदारण्यक उपनिषद् 4-5-6

पृ० 17 । 2 अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्यः प्रेयो वृणीते ।।
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सं परीत्य विविनक्ति धीरः
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ।।
कठोपनिषद् 1-2-1,2

पृ० 17 । 3 श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् ।

सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव ॥ कठोपनिषद् 1-1-26

पृ० 18 । 4 मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना
न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति।
छान्दोग्य उपनिषद् 8-12-1

पृ० 18 । 2 अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥
ईशोपनिषद् 1-11

पृ० 20 । 3 जिघच्छा परमा रोगा सङ्खारा परमा दुखा।
एतं ञत्वा यथाभूतं निब्बानं परमं सुखं ॥
धम्मपद 15 सुखवग्गो, 203।7

पृ० 22 । 1 या जातिं पुच्छ चरणं च पुच्छ, कट्ठा हवे जायति जातवेदो।
नीचा कुलीनो पि मुनी धितोमा, आजानियो होति हिरीनिसेधो ॥
सुत्त निपात 3।30।8

पृ० 22 । 2 योचि कोचि मनुस्सेसु परमेस्सेन जीवति।
एवं वासेट्ठ जानाहि पेस्सिको सो न ब्राह्मणो ॥
सुत्त निपात; 3,35।22

पृ० 27 । 1 हत्वा सत्त्वानि खादन्ति तान्कथं न विगर्हसे।
मानुषा मानुषानेव दासभोगेन भुञ्जते ॥
वधबन्धविरोधेन कारयन्ति दिवानिशम्।
आत्मना चापि जानासि यद्दुःखं वधताडने ॥
शा० प० 254।38-39 (भण्डारकर)

पृ० 29 । 1 न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥
छान्दोग्य उपनिषद् 5-11-5

पृ० 31 । 1 तत्कारणैर्हि संयुक्तं कार्यं संग्रहकारकम्।
येनैतद्वर्तते चक्रमनादि निधनं महत् ॥
अव्यक्तनामं व्यक्तारं विकारपरिमण्डलम्।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं चक्रं स्निग्धाक्षं वर्तते ध्रुवम् ॥
बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा संबध्यते पुनः ॥
शा० प० 204 । 7,8 96 (भण्डारकर)

पृ० 31 । 2 आशा बलवती कष्टा नैराश्यं परमं सुखम्।
आशां निराशां कृत्वा तु सुखं स्वपिति पिंगला ॥
शा० प० 171 । 61 पादटिप्पणी (भण्डारकर)

पृ० 34 । 1 अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत्प्रशस्यते ।।
यदन्येषाँ हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम् ।
अपत्रपेत वा येन न तत्कुर्यात्कथंचन ।।
तत्तु कर्म तथा कुर्याद्येन श्लाघेत संसदि ।
एतच्छीलं समासेन कथितं कुरुसत्तम ।।
शा० प० 124। 64-66 (भण्डारकर)

पृ० 35 । 1 खत्तिया ब्राह्मणा वेस्सा सुद्दा चण्डालपुक्कुसा ।
दूध धम्मं चरित्वान भवन्ति तिदिवे समा ।।
न वेदा सम्परायाय न जाति न पि बन्धवा ।
सकं च सीलं संसुद्धं सम्पराय सुखावहं ।।
जातक (3) 5, 2, 362

पृ० 35 । 2 गुरुभ्य आसनं देयं कर्त्तव्यं चाभिवादनम् ।
गुरूनभ्यर्च्य युज्यन्ते आयुषा यशसा श्रिया ।।
शा० प० 186।15 (भण्डारकर)

पृ० 36 । 1 जनवादोऽमृषावादः स्तुतिनिन्दाविवर्जनम् ।।
कामः क्रोधश्च लोभश्च दर्पः स्तम्भो विकत्थनम् ।
मोह ईर्ष्याविमानश्चेत्येतद्दान्तो न सेवते ।।
शा० प० 154।17-18 (भण्डारकर)

पृ० 36 । 2 मैत्रोऽथ शीलसम्पन्नः सुसहायपरश्च यः ।
मुक्तश्च विविधैः सङ्गैस्तस्य प्रेत्य महत्फलम् ।।
सुवृत्तः शीलसम्पन्नः प्रसन्नात्मात्मविद्बुधः ।
प्राप्येह लोके सत्कारं सुगतिं प्रतिपद्यते ।।
कर्म यच्छुभमेवेह सद्भिराचरितं च यत् ।
तदेव ज्ञानयुक्तस्य मुनेर्धर्मो न हीयते ।।
शा० प० 154 । 22-24 (भण्डारकर)

पृ० 36 । 1 सद्धो सीलेन सम्पन्नो यसौ भोगसमप्पितो ।
यं यं पदेसं भजति तत्थ तत्थेव पूजितो ।।
धम्मपद, 21 । 303 । 14

पृ० 37 । 1 निन्दत्सु च समो नित्यं प्रशंसत्सु च देवल ।
निह्नुवन्ति च ये तेषां समयं सुकृतं च ये ।।
शा० प० 222 । 8 (भण्डारकर)

पृ० 38 । 1 प्रतिहन्तुं न चेच्छन्ति हन्तारं वै मनीषिणः ।
शा० प० 222 । 9 (भण्डारकर)

पृ० 38 । 2 न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कदाचनं ।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो ।। धम्मपद 1,5,5

पृ० 39 । 1 कोधं जहे विप्पजहेय्य मानं, संयोजनं सव्वमतिक्कमेय्य
तं नामरूपस्मि असज्जमानं अकिंचनं नानुपतन्ति दुक्खा ।।
यो वै उप्पतितं कोधं रथं भत्तं व धारये ।
तमहं सारथिं बूमि रस्मिग्गाहो इतरो जनो ।।
अक्कोधेन जिने कोधं असाधुं साधुना जिने ।
धम्मपद 17, 221-223, 1-3

पृ० 39 । 2 नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति विद्यासमं बलम् ।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम् ।।
शा० प०, 169 । 33(भण्डारकर)

पृ० 39 । 3 नत्थि रागसमो अग्गि नत्थि दोससमो कलि ।
नत्थि खन्धादिसा दुक्खा नत्थि सन्तिपरं सुखं ।।
धम्मपद, 15, 202, 6

उत्थानेनामृतं लब्धमुत्थानेनासुरा हताः ।
उत्थानेन महेन्द्रेण श्रैष्ठ्यं प्राप्तं दिवीह च ।।

पृ० 40 । 1 उत्थानधीरः पुरुषो वाग्धीरानधितिष्ठति ।
उत्थानधीरं वाग्धीरा रमयन्त उपासते ।।
शा० प०, 58, 14-15 (भण्डारकर)

पृ० 40 । 2 धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः ।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ।।
शा० प०, 110 । 11 (भण्डारकर)

पृ० 41 । 1 यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः ।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ।।
शा० प०, 221 । 19 (भण्डारकर)

पृ० 42 । 1 आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।। गीता 6 । 32

पृ० 42 । 2 सुसुखं वत जीवाम वेरिनेसु अवेरिनो ।
वेरिनेसु मनुस्सेसु विहराम अवेरिनो ।।
सुसुखं वत जीवाम आतरेसु अनातुरा ।
आतरेसु मनुस्सेसु विहराम अनातुरा ।।
धम्मपद, 15, 197-198, 1-2

पृ० 42 । 3

सदाचारः स्मृतिर्वेदास्त्रिविधं धर्मलक्षणम् ।
चतुर्थमर्थमित्याहुः कवयो धर्मलक्षणम् ।।
लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः ।
उभयत्र सुखोदर्क इह चैव परत्र च ।।

शा० प०, 251-3-4 (भण्डारकर)

पृ० 43 । 2

अद्रोहेणेव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः ।
या वृत्तिः स परो धर्मस्तेन जीवामि जाजले ।।
सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः ।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले ।।

शा० प०, 254, 6, 9 (भण्डारकर)

पृ० 43 । 3

न अत्तहेतु न परस्स हेतु न पुत्तमिच्छे न धनं न रट्ठं ।
न इच्छेय्य अधम्मेन समिद्धिमत्तनो न सीलवा पञ्ञवा धम्मिका सिया ।।

धम्मपद, 6, 8419

पृ० 44 । 1

अर्थ इत्येव सर्वेषां कर्मणामव्यतिक्रमः ।
न ऋतेऽर्थेन वर्तेते धर्मकामाविति श्रुतिः ।।
आसीनश्च शयानश्च विचरन्नपि च स्थितः ।
अर्थयोगं दृढं कुर्याद्योगैरुच्चावचैरपि ।।

शा० प०, 161,11, 21 (भण्डारकर)

पृ० 45 । 1

पतिरूपकारी धुरवा, उट्ठाता विन्दते धनं ।
सच्चेन कित्ति पप्पोति, ददं मित्तानि गन्धति ।।

सुत्तनिपात, 1, 10, 7, पृ036

पृ० 45 । 2

अर्थेभ्यो हि विवृद्धेभ्यः सम्भृतेभ्यस्ततस्ततः ।
क्रियाः सर्वाः प्रवर्तन्ते पर्वतेभ्य इवापगा ः ।।
अधनेनार्थकामेन नार्थः शक्यो विवित्सता ।
अर्थैरर्था निबध्यन्ते गजैरिव महागजा ः ।।
धर्मः कामश्च स्वर्गश्च हर्षः क्रोधः श्रुतं दमः ।
अर्थादेतानि सर्वाणि प्रवर्तन्ते नराधिप ।।

शा० प० 8, 16, 20, 21 (भण्डारकर)

पृ० 45 । 3

अचरित्वा ब्रह्मचरियं अलद्धा योब्बने धनं ।
जिण्णकोञ्चा व झायन्ति खीणमच्छे व पल्लले ।।

धम्मपद, 11, 155 । 10

पृ० 45 । 2

न पश्यामोऽनपहृतं धनं किंचित्क्वचिद्वयम् ।
एवमेव हि राजानो जयन्ति पृथिवीमिमाम् ।।

शा० प०, 8, 30

पृ० 46 । 2 पुत्ता मत्थि धनं मत्थि इति वालो विहज्जति ।
अत्ता हि अत्तनो नत्थि कुतो पुत्ता कुतो धनं ।।
धम्मपद, 5 62 । 3

पृ० 46 । 3 आरोग्यपरमा लाभा सन्तुट्ठि परमं धनं।
विस्सासपरमा ञाति निब्बानं परमं सुखं ।।
धम्मपदं, 15, 204, 8

पृ० 47 । 1 नाकामः कामयत्यर्थं नाकामो धर्ममिच्छति ।
नाकामः कामयानोऽस्ति तस्मात्कामो विशिष्यते ।।
वणिजः कर्षका गोपाः कारवः शिल्पिनस्तथा ।
दैवकर्मकृतश्चैव युक्ताः कामेन कर्मसु ।।
शा०प०, 161, 28, 31 आदि (भण्डारकर)

पृ० 47 । 2 नवनीतं यथा दघ्नस्तथा कामोऽर्थधर्मतः ।
श्रेयस्तैलं च पिण्याकाद्घृतं श्रेय उदश्वितः ।।
श्रेयः पुष्पफलं काष्ठात्कामो धर्मार्थयोर्वरः ।
शा०प० 161, 34-35 (भण्डारकर)

पृ० 47 । 3 यो वै न पापे निरतो न पुण्ये
नार्थे न धर्मे मनुजो न कामे ।
विमुक्तदोषः समलोष्ठकाञ्चनः
स मुच्यते दुःखसुखार्थसिद्धेः ।। शा०प० 161, 42 (भण्डारकर)

पृ० 48 । 1 या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ।।
शा० प० 268, 12 (भण्डारकर)

पृ० 48 । 2 तण्हाय जायती सोको तण्हाय जायती भयं ।
तण्हाय विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं ।।
धम्मपद 16; 216 । 8

पृ० 48 । 3 अप्पस्सादा दुखा कामा इति विञ्ञाय पण्डितो ।
अपि दिब्बेसु कामेसु रतिं सो नाधिगच्छति ।
तण्हक्खयरतो होति सम्मासम्बुद्धसावको ।।
धम्मपदं, 14,6: 186-187 । 8 । 9

पृ० 50 । 1 गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ।
यथोक्तकारिणः सर्वे गच्छन्ति परमां गतिम् ।।
शा० प० 234, 13 (भण्डारकर)

पृ० 56 । 1 यो च बुद्धं च धम्मं च सङ्घं च सरणं गतो ।
चत्तारि अरियसच्चानि सम्मप्पज्जाय पस्सति ।।
धम्मपदं, 14 । 190 । 12

पृ० 57 । 1 यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।। गीता 18।46

पृ० 58 । 1 श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत् ।
भोज्यमन्नं वदान्यस्य कदर्यस्य न वार्धुषेः ।
तस्यैवान्नं न भोक्तव्यमिति धर्मविदो विदुः ।।
अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पापप्रमोचनी ।
जहाति पापं श्रद्धावान्सर्पो जीर्णामिव त्वचम् ।।
शा०प० 3256, 10-11-12 (भण्डारकर)

पृ० 58 । 2 श्रद्धा वैवस्वती सेयं सूर्यस्य दुहिता द्विज ।
सावित्री प्रसवित्री च बहिर्वाङ्मनसी ततः ।।
शा० प० अ० 264 । 8 (सातवलेकर सं०)

पृ० 58 । 3 सद्धो सीलेन सम्पन्नो यसोभोगसमप्पितो ।
यं यं पदेसं भजति तत्थ तत्थेव पूजितो ।।
धम्मपदं, 21, 303 । 14

पृ० 59 । 1 सन्तोषो वै स्वर्गतमः सन्तोषः परमं सुखम् ।
तुष्टेर्न किंचित्परतः सुसम्यक्परितिष्ठति ।।
शा० प०, 21, 2 (भण्डारकर)

पृ० 60 । 3 मित्रता सर्वभूतेषु दानमध्ययनं तपः ।
ब्राह्मणस्यैष धर्मः स्यान्न राज्ञो राजसत्तम ।।
शा०प० अ०, 14, 15 (भण्डारकर)

पृ० 61 । 1 सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः ।
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षानसूयता ।
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं स्थिरा ।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश ।।
शा० प०अ०, 156, 8-9 (भण्डारकर)

पृ० 61 । 2 सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम् ।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम् ।।
शा० प०अ०, 156, 5 (भण्डारकर)

पृ० 61 । 4 सत्यं ब्रह्म तपः सत्यं सत्यं सृजति च प्रजाः ।
सत्येन धार्यते लोकः स्वर्गं सत्येन गच्छति ।।
शा० प०अ० 183 । 1 (भण्डारकर)

पृ० 63 । 3 सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद्विद्यते परम् ।
सत्येन विधृतं सर्वं सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ।।
शा० प०अ०, 251, 10 (भण्डारकर)

पृ० 64 । 1 यो च वन्तकसावस्स सीलेसु सुसमाहितो ।
उपेतो दमसच्चेन स वै कासावमरहति ।। धम्मपदं, 1,10/3 10

पृ० 65 । 2 कायेन संवरो साधु साधु वाचाय संवरो ।
मनसा संवरो साधु साधु सब्बत्थसंवरो ।।
सब्बत्थसंबुतो भिक्खु सब्बदुक्खा पमुच्चति ।।
धम्मपदं 25, 261 । 2

पृ० 66 । 1 दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं च दमः परम् ।
विपाप्मा तेजसा युक्तः पुरुषो विन्दते महत् ।।
शा० प० 154, 9 (भण्डारकर)

पृ० 66 । 2 यस्सिन्द्रियानि समयं गतानि अस्सा यथा सारथिना सुदन्ता ।
पहीनमानस्स अनासवस्स देवा पि तस्य पिहयन्ति तादिनो ।।
धम्मपदं 7, 94।5

पृ० 66 । 3 आश्रमेषु चतुर्ष्वाहुर्दममेवोत्तमं व्रतम् ।
शा० प०, 154, 14 (भण्डारकर)

पृ० 66 । 4 अत्ता ह वै जितं सेय्यो या चायं इतरा पजा ।
अत्तदन्तस्स पोसस्स निच्चं सञ्ञतचारिनो ।। धम्मपदं, 8, 104, 5

पृ० 67 । 1 मासे मासे सहस्सेन य यजेथ सतं समं ।
एकं च भावितत्तानं मुहुत्तमपि पूजये ।
सा येव पूजना सेय्या यं चे वस्ससतं हुतं ।
धम्मपदं 8, 106।7

पृ० 67 । 2 इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव सिद्धिं प्राप्नोति मानवः ।।
शा० प०, 310, 8 (भण्डारकर)

पृ० 67 । 3 आश्रमेषु च सर्वेषु दम एव विशिष्यते ।
यच्च तेषु फलं धर्मे भूयो दान्ते तदुच्यते ।।
शा० प०, 213, 8 (भण्डारकर)

पृ० 68 । 1 अत्तानमेव पठमं पतिरूपे निवेसये ।
अथञ्ञमनुसायेय्य न किलिसेय्य पण्डितो ।।
धम्मपदं 12, 158, 2

पृ० 68 । 2 उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ।।

भगवद् गीता, 6, 5-6

पृ० 69 । 1 सुखं निराशः स्वपिति नैराश्यं परमं सुखम् ।
आशामनाशां कृत्वा हि सुखं स्वपिति पिङ्गला ।।

शा० प०अ०, 168, 52 (भण्डारकर)

पृ० 70 । 1 नात्यक्त्वा सुखमाप्नोति नात्यक्त्वा विन्दते परम् ।
नात्यक्त्वा चाभयः शेते त्यक्त्वा सर्वं सुखी भव ।।

शा० प०अ०, 170, 22 (भण्डारकर)

पृ० 74 । 1 तपसोपनिषत्त्यागस्त्यागस्योपनिषत्सुखम् ।

शा०प०अ०, 243 । 11 (भण्डारकर)

पृ० 74 । 3 अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यं दमो घृणा ।
एतत्तपो विदुर्धीरा न शरीरस्य शोषणम् ।।

शा०प०अ०, 80 । 17 (भण्डारकर)

पृ० 75 । 1 यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।। शा०प०अ० 283, 6

पृ० 75 । 2 तपःपरायणाः सर्वे सिध्यन्ति तपसा च ते ।

शा०प०अ० 155 । 12 (भण्डारकर)

पृ० 79 । 1 आकिञ्चन्ये च राज्ये च विशेषः सुमहानयम् ।
नित्योद्विग्नो हि धनवान्मृत्योरास्यगतो यथा ।।
नैवास्याग्निर्न चादित्यो न मृत्युर्न च दस्यवः ।
प्रभवन्ति धनज्यानिर्निर्मुक्तस्य निराशिषः ।।

शा०प०अ० 170, 11-12 (भण्डारकर)

पृ० 76 । 2 संसग्गजातस्स भवन्ति स्नेहा, स्नेहन्वयं दुक्खमिदं पहोति ।
आदीनवं स्नेहजं पेक्खमानो, एको चरे खग्गविसाणकप्पो ।।

सुत्त निपात, 1, 3, 2 (पृ० 8)

पृ० 78 । 2 न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति ।
अहिंसा सब्बपाणानं अरियो ति पवुच्चति ।।

धम्मपदं, 19, 270 । 15

पृ० 79 । 1 तयो रोगा पुरे आसुं इच्छा अनसनं जरा ।
पसूनं च समारम्भा अट्ठानवुतिमागमुं ।।

सुत्तनिपात, 2, 19, 28

पृ० 80 । 2 आयु: शक्तिं च कालं च निर्दिश्य तप आदिशेत् ।।

शा० प० 259, 34 (भण्डारकर)

पृ० 80 । 3 न च कश्चिन्न तान्हन्ति किमन्यत्प्राणयापनात् ।
दण्डश्चेन्न भवेल्लोके व्यनशिष्यन्निमा: प्रजा: ।
शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तरा: ।

शा० प०, 15, 25, 30 (भण्डारकर)

पृ० 85 । 1 येन येन शरीरेण यद्यत्कर्म करोत्ययम् ।
तेन तेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते ।।

शा० प०, 199, 4 (भण्डारकर)

पृ० 85 । 2 अथ चेदात्मभाग्येषु नान्येषां सिद्धिमश्नुते ।
तस्मात्कर्मैव कर्त्तव्यं नास्ति सिद्धिरकर्मण: ।।

शा०प० 10, 26

पृ० 88 । 1 यथा क्षेत्रं मृदुभूतमद्भिराप्लावितं तथा ।
जनयत्यंकुरं कर्म नृणां तद्वत्पुनर्भवम् ।।

शा० प०, 308, 32 (भण्डारकर)

पृ० 88 । 2 तथा शरीरं भवति देहाद्येनोपपादितम् ।
अध्वानं गतकश्चायं प्राप्तश्चायं गृहाद्गृहम् ।।

शा० प०, 286,12 (भण्डारकर)

पृ० 89 । 2 शौचाचारस्थित: सम्यग्विघसाशी गुरुप्रिय: ।
नित्यव्रती सत्यपर: स वै ब्राह्मण उच्यते ।।

शा० प०, 182 । 3 (भण्डारकर)

पृ० 89 । 3 विद्यालक्षणसम्पन्ना: सर्वत्राम्नायदर्शिन: ।
एते ब्रह्मसमा राजन् ब्राह्मणा: परिकीर्तिता: ।।

शा० प०, 77 । 2

पृ० 90 । 1 अध्यापयेदधीयीत याजयेत यजेत च ।
न वृथा प्रतिगृह्णीयान्न च दद्यात्कथञ्चन ।।

शा० प० 226, 11 (भण्डारक)

पृ० 90 । 2 दममेव महाराज धर्ममाहु: पुरातनम् ।
स्वाध्यायोऽध्यापनं चैव तत्र कर्म समाप्यते ।।

शा० प०, 60, 9 (भण्डारकर)

पृ० 90 । 5 अक्रोधेन वलवन्तं सीलवन्तं अनुस्सुतं ।
दन्तं अन्तिमसारीरं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।।

धम्मपदं, 26, 400 । 18

पृ० 91 । 1 न जटाहि न गोत्तेन न जच्चा होति ब्राह्मणो।
यह्मि सच्चं चधम्मो च सो सुखी सो च ब्राह्मणो ।।

धम्मपदं, 26, 393/11

पृ० 92 । 1 क्षत्रजं सेवते कर्म वेदाध्ययनसम्मतः ।
दानादानरतिर्यश्च स वै क्षत्रिय उच्यते ।।

शा० प०, 182, 5 (भण्डारकर)

पृ० 91 । 3 तेषां ज्यायस्तु कौन्तेय दण्डधारणमुच्यते ।
बलं हि क्षत्रिये नित्यं बले दण्डः समाहितः ।।

शा० प० 23,13 (भण्डारकर)

पृ० 94 । 2 कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं यो विशत्यनिशं शुचिः ।
वेदाध्ययनसम्पन्नः स वैश्य इति संज्ञितः ।।

शा० प०, 182, 6 (भण्डारकर)

पृ० 94 । 2 दानमध्ययनं यज्ञः शौचेन धनसञ्चयः ।
पितृवत्पालयेद्वैश्यो युक्तः सर्वपशूनिह ।।

शा० प०, 60, 21, 22 (भण्डारकर)

पृ० 96 । 1 सञ्चयांश्च न कुर्वीत जातु शूद्रः कथञ्चन ।
पापीयान्हि धनं लब्ध्वा वशे कुर्याद्गरीयसः ।।

शा० प० 60, 29, 30 (भण्डारकर)

पृ०97 । 1 अतो हि सर्ववर्णानां श्रद्धायज्ञो विधीयते ।
दैवतं हि महच्छ्रद्धा पवित्रं यजतां च यत् ।।

शा० प०, 60, 39 (भण्डारकर)

पृ० 97 । 2 आश्रमा विहिताः सर्वे वर्जयित्वा निराशिषाम् ।।
भैक्षचर्यां न तु प्राहुस्तस्य तद्धर्मचारिणः ।

शा० प०, 63, 13-14 (भण्डारकर)

पृ० 99 । 1 ब्रह्मचारी व्रती नित्यं नित्यं दीक्षापरो वशी ।
अविचार्य तथा वेदं कृत्यं कुर्वन्वसेत्सदा ।।
शुश्रूषां सततं कुर्वन्गुरोः संप्रणमेत च ।
षट्कर्मस्वनिवृत्तश्च न प्रवृत्तश्च सर्वशः ।।

शा० प०, 61, 18-19 (भण्डारकर)

पृ० 100 । 3 धर्मलब्धैर्युतो दारैरग्नीनुत्पाद्य धर्मतः ।
द्वितीयमायुषो भागं गृहमेधिव्रती भवेत् ।।

शा० प०, 234, 29 (भण्डारकर)

पृ० 100 । 4 गृहस्थस्त्वेव सर्वेषां चतुर्णां मूलमुच्यते ।
तत्र पक्वकषायो हि दान्तः सर्वत्र सिध्यति ॥
शा० प०, 226, 6 (भण्डारकर)

पृ० 101 । 1 यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
एवमाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥
शा०प० 284, 39 (भण्डारकर)

पृ० 101 । 2 भरणं पुत्रदाराणां वेदानां पारणं तथा ।
एवं हि यो ब्राह्मणो यज्ञशीलो गार्हस्थ्यमध्यावसते यथावत् ।
गृहस्थवृत्ति प्रविशोध्य सम्यक्स्वर्गे विशुद्धं फलमाप्नुते सः ॥
शा० प० 61,15-16 (भण्डारकर)

पृ० 103 । 3 गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं वनमेव तदाश्रयेत् ॥
तृतीयमायुषो भागं वानप्रस्थाश्रमे वसेत् ॥
शा० प० 236, 4-5 (भण्डारकर)

पृ० 104 । 4 कपालं वृक्षमूलानि कुचेलमसहायता ।
उपेक्षा सर्वभूतानामेतावद् भिक्षुलक्षणम् ॥
शा० प०, 237, 7 (भण्डारकर)

पृ० 111 । 1 सहस्राक्षेण राजा हि सर्व एवोपमीयते ।
स पश्यति हि यं धर्मं स धर्मः पुरुषर्षभ ॥
शा० प०, 92, 41 (भण्डारकर)

पृ० 112 । 1 मज्जेत्त्रयी दण्डनीतौ हतायां सर्वे धर्मा न भवेयुर्विरुद्धाः ।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां गताः स्युः क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे ॥
सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टाः सर्वा दीक्षा राजधर्मेषु चोक्ताः ।
सर्वे योगा राजधर्मेषु चोक्ताः सर्वे लोका राजधर्मान्प्रविष्टाः ॥
शा० प० 63, 28-29 (भण्डारकर)

पृ० 113 । 1 यथा राजन्हस्तिपदे पदानि संलीयन्ते सर्वसत्त्वोद्भवानि ।
एवं धर्मान्राजधर्मेषु सर्वान् सर्वावस्थं संप्रलीनान्निबोध ॥
शा० प०, 63, 25 (भण्डारकर)

राजमूला महाराज योगक्षेमसुवृष्टयः ।
प्रजासु व्याधयश्चैव मरणं च भयानि च ॥
कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिश्च भरतर्षभ ।
राजमूलानि सर्वाणि मम नास्त्यत्र संशयः ॥
शा० प०, 139 9-10 (भण्डारकर)

पृ० 113 । 3 राष्ट्रस्यैतत्कृत्यतमं राज्ञ एवाभिषेचनम् ।
अनिन्द्रमबलं राष्ट्रं दस्यवोऽभिभवन्ति च ।।
अराजकेषु राष्ट्रेषु धर्मो न व्यवतिष्ठते ।
परस्परं च खादन्ति सर्वथा धिगराजकम् ।।

शा० प० 67-2-3 (भण्डारकर)

पृ० 114 । 6 कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम् ।
इति ते संशयो मा भूद्राजा कालस्य कारणम् ।।

शा० प० 70, 6 (भण्डारकर)

पृ० 115 । 1 यथा राज्यं समुत्पन्नमादौ कृतयुगेऽभवत् ।।
नैव राज्यं न राजासीन्न दण्डो न च दाण्डिकः ।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति च परस्परम् ।।

शा० प० 59, 13-14 (भण्डारकर)

पृ० 116 । 3 स्वेषु धर्मेष्ववस्थाप्य प्रजाः सर्वा महीपतिः ।
धर्मेण सर्वकृत्यानि समनिष्ठानि कारयेत् ।।

शा० प० 60, 19 (भण्डारकर)

अरक्षितात्मा यो राजा प्रजाश्चापि न रक्षति ।
प्रजाश्च तस्य क्षीयन्ते ताश्च सोऽनुविनश्यति ।।

शा० प० 91, 36 (भण्डारकर)

चातुर्वर्ण्यं तथा वेदाश्चातुराश्रम्यमेव च ।
सर्वं प्रमुह्यते ह्येतद्यदा राजा प्रमाद्यति ।।

शा० प०, 92, 7 (भण्डारकर)

पृ० 117 । 1 एष एव परो धर्मो यद्राजा रक्षते प्रजाः ।
भूतानां हि यथा धर्मे रक्षणं च परा दया ।।

शा० प०, 72, 26 (भण्डारकर)

पृ० 119 । 1 प्रशाम्यते च राजा हि नारीवोद्यमवर्जितः ।
लोकरञ्जनमेवात्र राज्ञां धर्मः सनातनः ।
सत्यस्य रक्षणं चैव व्यवहारस्य चार्जवम् ।।

शा० प०, 57, 1, 11 (भण्डारकर)

पृ० 119 । 2 न यस्य कूटकपटं न माया न च मत्सरः ।
विषये भूमिपालस्य तस्य धर्मः सनातनः ।।

शा० प०, 57, 37 (भण्डारकर)

पृ० 120 । 2 वाङ्मात्रेण विनीतः स्याद् हृदयेन यथा क्षुरः ।
श्लक्ष्णपूर्वाभिभाषी च कामक्रोधौ विवर्जयेत् ।।
अञ्जलिं शपथं सान्त्वं प्रणम्य शिरसा वदेत् ।
अश्रुप्रपातनं चैव कर्त्तव्यं भूतिमिच्छता ।।
वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालविपर्ययः ।
अथैनमागते काले भिन्द्याद्घटमिवाश्मनि ।।
शा० प०, 138, 13, 17, 18 (भण्डारकर)

पृ० 120 । 3 कर्मणा येन तेनेह मृदुना दारुणेन वा ।
उद्धरेद्दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ।।
विश्वासयित्वा तु परं तत्त्वभूतेन हेतुना ।
अथास्य प्रहरेत्काले किञ्चिद्विचलिते पदे ।।
शा० प० 138, 38, 44 (भण्डारकर)

पृ० 121 । 1 ऋणशेषोऽग्निशेषश्च शत्रुशेषस्तथैव च ।
पुनः पुनर्विवर्धेत स्वल्पोऽप्यनिवारितः ।।
शा० प०, 138, 58 (भण्डारकर)

पृ० 123 । 2 संक्षेपो नीतिशास्त्राणामविश्वासः परो मतः ।
नृषु तस्मादविश्वासः पुष्कलं हितमात्मनः ।।
वध्यन्ते न ह्यविश्वस्ताः शत्रुभिर्दुर्बला अपि ।
विश्वस्तास्त्वाशु वध्यन्ते बलवन्तोऽपि दुर्बलैः ।।
शा० प०, 136, 187-188 (भण्डारकर)

पृ० 124 । 2 प्रजानां रक्षणं कार्यं न कार्यं कर्म गर्हितम् ।
कृपणानाथवृद्धानां विधवानां च योषिताम् ।
योगक्षेमं च वृत्तिं च नित्यमेव प्रकल्पयेत् ।।
शा० प० 81, 23-24 (भण्डारकर)

पृ० 125 । 2 षाड्गुण्यं च त्रिवर्गं च त्रिवर्गमपरं तथा ।
यो वेत्ति पुरुषव्याघ्रः स भुनक्ति महीमिमाम् ।।
शा० प०, 69, 64 (भण्डारकर)

पृ० 129 । 2 सव्बे तसन्ति दण्डस्स सव्बे भायन्ति मच्चुनो ।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये ।।
धम्मपदं 10, 129 । 1

पृ० 128 । 2 दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ।।
शा० प०, 15, 2 (भण्डारकर)

पृ० 142 । 3 योच बुद्धं च धम्मं च संघं च सरणं गतो।
चत्तारि अरियसच्चानि सम्मप्पञ्ञाय पस्सति।

धम्मपदं, 14, 190, 12

पृ० 143 । 3 सव्वे संखारा अनिच्चा ति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दती दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया।।

धम्मपदं, 20, 277 । 5

पृ० 145 । 3 शीतमुष्णं तथा वर्षं कालेन परिवर्तते।
एवमेव मनुष्याणां सुखदुःखे नरर्षभ।।

शा० प०, 28, 34 (भण्डारकर)

पृ० 147 । 1 मनसो महती बुद्धिर्बुद्धेः कालो महान्स्मृतः।।
कालात्स भगवान्विष्णुर्यस्य सर्वमिदं जगत्।

शा० प० 199, 11, 12 (भण्डारकर)

पृ० 147 । 3 सुखदुःखगुणोदर्कं कालं कालफलप्रदम्।।

शा० प० 34, 7 (भण्डारकर)

पृ० 151 । 1 अप्पमादेन मघवा देवानं सेट्ठतं गतो।
अप्पमादं पसंसन्ति पमादो गरहितो सदा।।

धम्मपदं 2, 30 । 10

पृ० 153 । 3 भवितव्यं तथा तच्च न तच्छक्यमतोऽन्यथा।।

शा० प० 31-41 (भण्डारकर)

पृ० 153 । 4 न कर्मणा लभ्यते चिन्तया वा नाप्यस्य दाता पुरुषस्य कश्चित्।
पर्याययोगाद्विहितं विधात्रा कालेन सर्वं लभते मनुष्यः।।

शा० प० 26, 5 (भण्डारकर)

पृ० 157 । 2 बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः।
अजसंज्ञानि बीजानि च्छागं न हन्तुमर्हथ।।
नैष धर्मः सतां देवा यत्र वध्येत वै पशुः।

शा० प० 324, 3-5 (भण्डारकर)

पृ० 157 । 3 मांसं मधुसुरा मत्स्या आसवं कृसरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद्वेदेषु कल्पितम्।।

शा० प० 157, 9 (भण्डारकर)

पृ० 157 । 4 आज्येन पयसा दध्ना पूर्णाहुत्या विशेषतः।

शा० प०, 255, 37 (भण्डारकर)

पृ० 159 । 1 आत्मापि चायं न मम सर्वापि पृथिवी मम ।
यथा मम तथान्येषामिति पश्यन्न मुह्यति ॥
शोकस्थानसहस्राणि हर्षस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥
शा० प०, 26, 19-20 (भण्डारकर)

पृ० 160 । 2 सर्वं पावयते ज्ञानं यो ज्ञानं ह्यनुवर्त्तते ।
ज्ञानादपेत्य या वृत्तिः सा विनाशयति प्रजाः ।
शा० प० 261, 46 (भण्डारकर)

पृ0 16० । 3 आकिञ्चन्ये न मोक्षोऽस्ति कैञ्चन्ये नास्ति बन्धनम् ।
कैञ्चन्ये चेतरे चैव जन्तुर्ज्ञानेन मुच्यते ॥
शा० प०, 308, 50 (भण्डारकर)

परिशिष्ट 'ख'

प्रमुख सहायक ग्रन्थ

1. महाभारत, 12 शान्तिपर्व, जिल्द 13 भाग राजधर्म, जिल्द 14 आपद्धर्म, जिल्द 15, 16 मोक्षधर्म, सम्पादक—श्रीपाद कृष्ण वेलवलकर, भण्डारकर रिसर्च ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, पूना
2. महाभारत 12 शान्तिपर्व, दो जिल्दों में, सम्पादक, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, जिला-सूरत।
3. महाभारत, गीता प्रेस गोरखपुर
4. महाभारत, सूर्यकान्त त्रिपाठी, इलाहाबाद
5. महाभारत, मीमांसा, चिन्तामणि विनायक वैद्य, पूना
6. महाभारत, मीमांसा, देवीदत्त शुक्ल, इलाहाबाद।
7. महाभारत में धर्म—डा० शकुन्तला रानी तिवारी, पाटल प्रकाशन, आगरा
8. भारतीय दर्शन—उमेश मिश्र, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, (उत्तर प्रदेश)
9. प्राचीन भारतीय साहित्य—एम० विन्टरनिट्ज, प्रथम भाग, द्वितीय खण्ड अनु० डॉ० रामचन्द्र पाण्डेय, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
10. ऋग्वेद, स्वाध्याय मण्डल, औन्ध, जिला सतारा।
11. अथर्ववेद, स्वाध्याय मण्डल, औन्ध—जिला सतारा।
12. यजुर्वेद, स्वाध्याय मण्डल, औन्ध—जिला सतारा।
13. भारतीय संस्कृति का विकास (प्रथम खण्ड) (वैदिक धारा) द्वितीय खण्ड (औपनिषद् धारा) डॉ० मंगलदेव शास्त्री, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी।
14. भारतीय संस्कृति का प्रवाह, इन्द्र विद्यावाचस्पति, भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली।

15. भारतीय दर्शनों का समन्वय—डॉ० आदित्य नाथ झा,
मध्यप्रदेश शासन परिषद्, भोपाल।
16. वैदिक धर्म क्या कहता है ? 1,2,3 भाग
श्री कृष्ण दत्त भट्ट, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी।
17. संस्कृति के चार अध्याय,
श्री रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल पटना-4
18. मनुस्मृति, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
19. याज्ञवल्क्य स्मृति, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
20. महाभारत—रमेशचन्द्र दत्त, कलकत्ता
21. वाल्मीकि रामायण, गीता प्रेस, गोरखपुर
22. कौटिल्य का अर्थशास्त्र, वाराणसी
23. मुण्डक उपनिषद्, चौखम्बा, वाराणसी।
24. कठोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर।
25. छान्दोग्य उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर।
26. बृहदारण्यक उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर।
27. बौद्ध धर्म क्या कहता है ?—श्रीकृष्ण दत्त भट्ट
सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी।
28. बौद्ध धर्म दर्शन—आचार्य नरेन्द्रदेव, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना-3
29. संयुत्त निकाय, पहला-दूसरा भाग, अनु० भिक्षु जगदीश काश्यप, भिक्षु धर्म रक्षित, महाबोधिसभा, सारनाथ, वाराणसी।
30. दीघ निकाय—अनु० भिक्षु राहुल सांकृत्यायन, भिक्षु जगदीश काश्यप, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी।
31. मज्झिम निकाय (बुद्ध वचनामृत) अनु० राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी।
32. सुत्त निपात—भिक्षु धर्मरत्न, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी।
33. धम्मपद—कन्छेदी लाल गुप्त, सत्कारि शर्मा, चौखम्बा, विद्याभवन, वाराणसी।
34. जातक—भदन्त आनन्द कौशल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
35. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन-1-2 भाग,
भरतसिंह उपाध्याय, बंगाल हिन्दी भवन, कलकत्ता।
36. पालि साहित्य का इतिहास, भरतसिंह उपाध्याय
37. बोधिचर्यावतार, आचार्य शान्तिदेव
38. अंगुत्तर निकाय, महाबोधि सभा, वाराणसी।
39. मिलिन्द प्रश्न, भिक्षु जगदीश काश्यप, महाबोधि सभा, वाराणसी।
40. बुद्धचरितम्, चौखम्बा विद्यालय, वाराणसी।

41. The Mahabharata A Criticism—C. V. Vaidya.
Mehar Chand Laxmandass, Delhi-6
42. On the meaning of the Mahabharata
V. S. Sukthankar, Asiatic Society of Bombay.
43. History of Dharma Shastra Vol. II, I, II part, Poona.
44. Early History of Institutions—Sir Henry Maine.
45. A History of Sanskrit Literature—A. Macdonell, London.
46. Religion and Philosophy of the Veda—Keith, London.
47. Vyasa and Valmiki—Aurobindo.
Aurobindo Society, Pondicherry.
48. Date of the Bharata war-Tarakeshwar Bhattacharya, Calcutta.
49. Mahabharata—As a History and a drama—P. N. Mullick, Calcutta.
50. Mahabharata—As it was, is and ever shall be—
P. N. Mullick Calcutta.
51. Mahabharata—A Critical Study. Pramath Nath Mullick, Calcutta.
52. Mahabharata Edited by V. S. Sukthankar,
Review (An orient Sock. J.) 49, 242, 4229.
53. Development of Moral Philosophy in India—S. R. Gnpta, Calcutta.
54, Crime and Punishment in Jataka—R. N. Mehta.
55. Social Units in Jataka, Ratilal Mehta.
56. आर्य संस्कृति के आधार ग्रन्थ—बलदेव उपाध्याय, नन्दकिशोर एण्ड सन्स, वाराणसी
57. बौद्ध-दर्शन, मीमांसा— बलदेव उपाध्याय, वाराणसी।
58. लोकायत—चिन्तामणि उपाध्याय
59. भारतीय दर्शनसार—बलदेव उपाध्याय, वाराणसी
60. Rajadharma—Rangaswami Ayangar.
61. Vaidic Vijnan and Bharatiya Sanskrti,
Giridhar Sharma.

62. Soul of India—Motilal Das.
63. थेरगाथा—अनु० भिक्षु धर्मरत्न, वाराणसी
64. विद्यावदान—सम्पादक, पी०एल० वैद्य
65. बुद्धवचन—भदन्त आनन्द कौसल्यायन, वाराणसी
66. खुद्दकनिकाय—सम्पादक, भिक्खु जगदीश काश्यप, वाराणसी

अनुक्रमणी

य

र

ल

व

डा० सुमेधा विद्यालंकार

जन्म : २१ अप्रैल, १९३१

जन्मस्थान : रंगून

शिक्षा :

विद्यालंकृता, कन्या गुरुकुल देहरादून, (उ० प्र०)
विद्यालंकार, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
एम० ए०, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली,
साहित्याचार्य, दरभंगा विश्वविद्यालय (बिहार),
पी०एच० डी०, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली,

सम्प्रति प्रवक्ता, श्री ला० ब० शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली

धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान आदि अनेक पत्रों में विविध सामाजिक एवं सांस्कृतिक लेखों का प्रकाशन। अनेक वर्षों तक आकाशवाणी नागपुर से विविध सामयिक वार्त्ताओं, झलकियों एवं प्रसंगों आदि का प्रसारण।